कवि-नाट्यम्

लेखक

राम नारायण अग्रवाल

भूमिका-लेखक

सेठ गोविन्ददास

१९५९

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा—दिल्ली

भा र ती सा हि त्य म न्दि र

(एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)

आसफअली रोड — नई दिल्ली
फव्वारा — दिल्ली
माई हीरां गेट — जालन्धर
लाल बाग — लखनऊ

मूल्य ४·००

गौरीशंकर शर्मा, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित
एवं इण्डिया प्रिंटर्स, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली में मुद्रित

दो शब्द

'कवि-नाट्यम्' हिन्दी कवियों के जीवनवृत्त पर लिखे गये मेरे अधिकांश एकांकी नाटकों का संग्रह है। ये नाटक कैसे हैं—मैं नहीं जानता। नाटककार भी मैं वास्तव में हूँ नहीं, बना दिया गया हूँ। बात यों हुई कि जब आकाशवाणी, दिल्ली पर ब्रजभाषा कार्यक्रम को आरम्भ करने के लिये मुझे मथुरा से बुलाया गया तब अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ यह भी आवश्यक समझा गया कि ब्रजभाषा में कुछ रूपक भी प्रसारित हों। उस समय कई लोगों से ब्रजभाषा गद्य में रूपक लिखने को कहा गया, पर लिखा किसी ने नहीं, तब अन्त में यह काम मैंने ही आरम्भ किया। पहले-पहले ब्रजभाषा गद्य में 'बसन्त' शीर्षक से एक रूपक प्रसारित हुआ उसे तत्कालीन स्टेशन डायरेक्टर श्री कृष्ण स्वरूप मलिक ने बहुत पसन्द किया और श्रोताओं ने भी उसे सराहा। तब से आज तक समय-समय पर आकाशवाणी और कुछ पत्रों में भी रूपक लिखने का काम मैं बराबर करता रहा हूँ और अब मुझे सचमुच ही नाटककार होने का भ्रम हो गया है। यह पुस्तक उसी भ्रम का परिणाम है, जो लगभग तीन वर्ष बाद प्रकाशक जी के अप्रकाशित ग्रन्थों के बंडलों में से बाहर निकलकर अब भगवान् की और उनकी कृपा से आपके समक्ष है।

जैसा मैं निवेदन कर चुका हूँ इस ग्रन्थ के अधिकांश नाटक पहले रेडियो के लिए लिखे गये। बाद में भाई चिरंजीत जी ने यह परामर्श दिया कि हिन्दी के कवियों पर लिखे गये ये नाटक महत्वपूर्ण हैं और इनका मंच रूपान्तर तैयार करके उसे अवश्य छपवाया जाय। उन्होंने इस ग्रंथ का नामकरण भी 'कवि-नाट्यम्' कर दिया। और भी कई मित्रों ने इन रूपकों को सराहा और इनको मंच के लिए रूपान्तरित करने का

परामर्श दिया। मैंने उन्हीं की बात मानकर जब यह ग्रन्थ तैयार किया, तब कुछ ऐसे कवियों पर भी मैंने नये सिरे से रूपक लिखे जिनसे मैं प्रभावित था, परन्तु जो कदाचित् आकाशवाणी से प्रसारित नहीं हो सकते थे। 'प्रवीणराय' का रूपक एक ऐसा ही रूपक है। इस प्रकार पुस्तक की यह पाण्डुलिपि तैयार हुई तो मैंने उसे एक दिन यहीं दिल्ली में डा० सत्येन्द्रजी को दिखलाया और उन्हें वह पसन्द आई। वे बोले ये नाटक तो 'पाठ्य पुस्तक' होने लायक है। संयोग से श्री भीमसेनजी भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने इस पुस्तक को छापने की इच्छा प्रगट की और उसी इच्छा के परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ आज आपके सामने है। यही इस पुस्तक की छोटी-सी कहानी है।

मैं उन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ को लिखवाया और छपवाया है। साथ ही मैं सेठ गोविन्द दासजी का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी इस ग्रन्थ को पढ़कर इसकी भूमिका लिखने की कृपा की, बड़ों को धन्यवाद देने की धृष्टता भी तो मैं नहीं कर सकता।

आज इस ग्रन्थ को प्रकाशित देखकर मुझे स्वयं बहुत हर्ष है, क्योंकि इस ग्रन्थ में नाटक के मिस ही, मैं कुछ हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में नवीन सूचनायें दे सका हूँ। यदि साहित्य के रसिक या विद्यार्थी इस ग्रंथ से थोड़ा भी मनोरंजन पा सके तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।

अन्त में, मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशक ला० श्यामलालजी को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इसे प्रकाशित करने की उचित व्यवस्था की।

नई दिल्ली
बसंत पंचमी, संवत् २०१५.

विनीत—
राम नारायण अग्रवाल

भूमिका

भक्ति-युग हमारे हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' माना जाता है। उस युग में इस देश में जो धार्मिक क्रान्ति हुई उसने हिन्दी को स्थायी महत्व का प्रचुर साहित्य प्रदान किया है। काव्य-क्षेत्र में चिरस्मरणीय कवि उस समय उद्भूत हुए, जिनमें से अधिकांश ने ब्रजभाषा में—जो उस युग की सबसे प्रमुख सांस्कृतिक व काव्य-भाषा थी—महवत्त्पूर्ण रचनायें कीं। क्योंकि ये साहित्यकार अधिकांशतः भक्त थे और कविता उनकी भक्ति-भावना को व्यक्त करने का साधन भर थी, अतः वे लोकेपणा से सदा ऊपर उठे रहे, यहाँ तक कि उन्होंने अपने जीवन-परिचय का भी स्वयं कोई उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया। किसी प्रसंगवश ही कभी उन्हें अपने सम्बन्ध में स्वयं कोई उल्लेख करना पड़ गया हो तो वह एक अलग बात है। यही कारण है कि हमें अपने साहित्य के उन स्रष्टाओं के सम्बन्ध में बहुत ही अधूरी जानकारी है।

प्राचीन भक्त कवियों के जीवनवृत को जानने का आधार या तो उनके सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुतियाँ हैं या नाभादास जी कृत 'भक्त-माल' या उस पर प्रियदास जी की सुबोधिनी टीका अथवा ध्रुवदास जी की 'भक्तनामावली' या इन्हीं जैसे कुछ अन्य अप्रकाशित ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भी इन कवियों की प्रशस्ति तथा जीवनवृत्त का कहीं-कहीं पद्य में और गद्य में थोड़ा बहुत उल्लेख मिल जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय के 'वार्त्ता' साहित्य में ऐसे वर्णन विशेष रूप से प्राप्त हैं। परन्तु क्योंकि ऐसे सभी उल्लेख श्रद्धा के अतिरेक में लिखे गये हैं, अतः प्रायः अतिरंजित हैं। ऐसी दशा में उक्त आधारों में से प्रामाणिक जीवनी की पड़ताल स्वयं अपने आप में एक शोध का विषय है। श्री अग्रवाल जी ने अपने 'कवि-नाट्यम्' ग्रंथ में

इसी शोध को आगे बढ़ाया है। इस सामग्री को नाटकों के माध्यम से सरल, रोचक और सर्व-सुलभ बनाकर उपस्थित करना इस ग्रन्थ की एक विशेषता है।

मुझे यह देखकर हर्ष है कि श्री अग्रवालजी ने अधिकांशतः भक्ति-कालीन और कुछ रीति कालीन प्रमुख कवियों के जीवनवृत पर पर्याप्त श्रम करके यह नाटक तैयार किये है जिनसे इन कवियों के सम्बन्ध में कुछ नवीन जानकारी प्राप्त होती है। कवियों के साथ-साथ हिन्दी की दो कवयित्रियों—गोस्वामी तुलसीदासजी की पत्नी रत्नावली तथा प्रवीण-राय पर नाटक लिखकर इस ग्रन्थ में महिलाओं को भी स्थान दिया गया है। जिन कवियों पर नाटक लिखे गये हैं उनका जीवनवृत भी अपनी मान्यता के अनुसार लेखक ने नाटक के आरम्भ में दे दिया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गयी है।

मैंने स्वयं हिन्दी के कवियों पर कई नाटक लिखे हैं। इस प्रकार के न.टकों में प्रायः यह बाधा रहती है कि उसमें कवि के जीवनवृत्त और उसकी विचारधारा में बँधकर ही निर्धारित घटनाओं में नाटकीयता उत्पन्न करनी होती है। लेखक को कथावस्तु को स्वतन्त्रतापूर्वक विक-सित करने का पूरा अवसर ऐसे नाटकों में कम ही मिल पाता है, परन्तु मुझे यह देखकर हर्ष है कि लेखक ने कवियों के जीवनवृत्त में से नाटकीय घटनाओं के चयन में सूझ-बूझ से काम लिया है और प्रस्तुत नाटकों में से अधिकांश नाटक बिना किसी अधिक आडम्बर के मंच पर लाये जा सकते हैं।

इस ग्रंथ में कुछ ब्रजबासी पात्रों द्वारा ब्रजभाषा का प्रयोग कराया गया है। वर्तमान काल में ब्रज गद्य का यह प्रयोग कदाचित् कुछ लोगों को न रुचे, परन्तु जो पात्र ब्रजभूमि के ही हैं, उनके मुख से ब्रजभाषा का प्रयोग नाटकों की स्वाभाविकता की वृद्धि में सहायक हुआ है। यद्यपि ब्रज कविता की भाँति ब्रजभाषा गद्य का आज कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। लगभग तीन करोड़ जन-संख्या वाले विस्तृत ब्रजभाषा-भाषी क्षेत्र

में ब्रज बोली के भी अनेक रूप हैं। ऐसी दशा में लेखक के सामने यह भी कठिनाई रही होगी कि ब्रज बोली का कौन-सा रूप नाटकों के लिये ग्रहण किया जाये, परन्तु लेखक ने इस सम्बन्ध में ब्रज के प्रसिद्ध रंगमंच 'रासलीलाओं' की ब्रजभाषा गद्य को अपनाकर उसी को वर्तमान हिन्दी के कुछ और निकट लाने की चेष्टा की है। ब्रजभाषा गद्य को एक रूप देने का प्रयत्न भी इन नाटकों में हुआ है।

इस प्रकार श्री राम नारायण अग्रवाल का यह ग्रन्थ साहित्य-प्रेमियों, विद्यार्थियों और अभिनेताओं, सभी के लिये उपयोगी है। इस व्यस्त युग में साहित्य-समारोहों के लिए ऐसे नाटक उपयोगी है। वैसे साहित्यकारों की जीवनी पर आधारित होने के कारण यह पुस्तक एक उपयोगी 'पाठ्य-पुस्तक' भी हो सकती है जो प्राचीन कवियों की जीवनी से विद्यार्थियों का निकट का सम्पर्क स्थापित करने के साथ-साथ उन्हें ब्रजभाषा गद्य का भी थोड़ा-सा परिचय दे सकती है। ब्रजभाषा में ही अब से पहले हिन्दी का अधिकाश साहित्य लिखा गया है और इस दृष्टि से उसको समझना सभी के लिए लाभप्रद हो सकता है।

जब मै अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मण्डल का सभापति था तभी से श्री राम नारायण अग्रवाल मेरे निकट सम्पर्क में रहे है। इसलिए उनके इस सुन्दर ग्रन्थ को प्रकाशित देखकर मुझे स्वाभाविक प्रसन्नता है। मेरा विश्वास है कि सभी साहित्य-प्रेमी उनकी इस रचना का स्वागत करेंगे।

३३, फिरोजशाह रोड
नई दिल्ली

गोविन्ददास

अनुक्रमणिका

: १ :

संतन को कहा सीकरी सों काम[1]

कुंभन दास : एक परिचय—कुंभन दास जी का जन्म गोवर्धन के निकट मथुरा-मार्ग पर स्थित जमुनावते गाँव में एक गोरवा क्षत्रिय—परिवार में कार्तिक कृष्णा ११ संवत् १५२५ को हुआ। जैत गाँव के निकट मथुरा जिले के 'बहुलाबन' में इनका विवाह हुआ था, जिसके फलस्वरूप इनके सात पुत्र हुए। कुंभन दास जी की एक विधवा भतीजी भी थी, जो इन्हीं के पास रहती थी। इस प्रकार पुत्र, पुत्र-वधू व अन्य सब आश्रित व्यक्तियों को मिलाकर कुंभन दास जी के परिवार में १७ व्यक्ति थे, जिनका खेत की थोड़ी सी आय में पेट भरना बड़ा कठिन होता था; इस कारण इनके घर में दरिद्र नारायण ने स्थायी डेरा डाल दिया था। फिर भी कुंभन दास जी परासौली गाँव में अपनी पैतृक-भूमि से खेती द्वारा प्राप्त आय में ही सन्तुष्ट रहे। वे सदा हाथ-पाँव के श्रम से प्राप्त कमाई पर ही विश्वास रखते रहे। साहित्य और संगीत को उन्होंने अपनी आजीविका का साधन अनेक अवसर आने पर भी नहीं बनाया। उन्हें अपने क्षत्री होने का अभिमान था और क्षत्रिय होकर दूसरों से दान लेना वे निंद्य समझते थे, यही कारण था कि संवत् १६२० के लगभग जब राजा मानसिंह गोवर्धन गये तो वे कुंभन दास जी से स्वयं उनके खेत पर जाकर मिले और उनको एक सहस्र मुद्रा भेंट करने का, उनके नाम उनके गाँव का पट्टा करने का, मोदी के यहाँ से बिना पैसा सामग्री प्राप्त करने का और इसी प्रकार

---

१. यह नाटक कवि कुंभन दास जी की जीवन-घटना पर आधारित है। नाटक के पूर्व कवि का संक्षिप्त जीवन-परिचय आवश्यक जानकारी के लिये दिया जा रहा है।

—लेखक

के कई अन्य प्रस्ताव किये परन्तु कुंभन दास जी के गले एक भी न उतरा। उन्होंने उलटा मानसिंह से इस सबके बदले यही कहा कि 'अब फेर हमते मिलियो मति।'

इसी प्रकार सम्राट् अकबर से भी वे जो चाहते, प्राप्त कर सकते थे, परन्तु उन्होंने उसको किस बुरी तरह झाड़ा यह स्वयं उनके सीकरी वाले पद से ही भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। और तो और एक बार जब स्वयं उनके गुरु-पुत्र गोस्वामी बिट्ठल नाथ जी ने संवत् १६३० के लगभग उन्हें अर्थ-कष्ट से अत्यन्त उत्पीड़ित समझ कर अपने साथ गुजरात-यात्रा पर चलने की आज्ञा दी, तब भी कुंभन दास जी शोक से विह्वल हो गये। वार्त्ताकारों ने इसका कारण कुंभन दास की श्री नाथजी में अनन्य भक्ति कहा है, क्योंकि श्री नाथजी का वियोग उन्हें एक क्षण के लिए भी असह्य था, किन्तु श्री नाथजी के वियोग की संभावना के साथ-साथ उनके क्लेश का यह कम कारण नहीं था कि जो दान भी ग्रहण करने की वृत्ति उन्हें अब तक अग्राह्य थी इस यात्रा में साथ चलने का आदेश देकर उनके गुरु-पुत्र ने उन्हें परोक्ष रूप से उसी वृत्ति को ग्रहण करने का विधान बना दिया था, जिसका गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा के कारण वे प्रतिवाद भी नहीं कर सकते थे। इसलिए गुसाँई जी की आज्ञा पालन करने के लिए कुंभन दास गुजरात चले तो परन्तु गोवर्धन की सीमा 'अप्सरा-कुण्ड' तक ही पहुँच कर वे इस घटना से इतने विह्वल हो गये कि गुसाँई जी को स्वयं उन्हें घर लौटने का आदेश देना पड़ा, और कुंभन दास प्रसन्नता से कुछ ही घण्टों में अपनी यात्रा पूरी करके लौट आये।

कुंभन दास जी ने सम्भवतः १५५६ के आस-पास आचार्य बल्लभ से पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा ली और लगता है कि तभी से कृष्ण की माधुर्य; भक्ति के गायन में इनकी विशेष रुचि और गति हुई। वैसे तो यह आरम्भ से ही निस्पृही भक्त-हृदय और मधुर गायक थे। इनके कण्ठ में अपना एक विशेष आकर्षण था; परन्तु पद-रचना की प्रेरणा इन्हें आचार्य बल्लभ से ही हुई। संवत् १६०२ में गुसाँई विट्ठल नाथ जी ने जब

अष्टछाप की स्थापना की तो उसमें कुंभन दास और इनके पुत्र चतुर्भुज-दास भी सम्मिलित किये गये। तब से यथा समय अपने कलित कंठ और ललित पदों से श्री नाथजी की कीर्त्तन-सेवा ही इनके जीवन का लक्ष्य बन गया, जिसे इन्होंने ऐसा निभाया कि स्वयं श्री नाथजी इन पर ऐसे रीझे कि वे इनके पीछे-पीछे फिरने लगे।

गुरु और गोविन्द दोनों में कुंभन दास जी की अनन्य श्रद्धा थी। इस सम्बन्ध में एक-दो घटनाओं के ही उदाहरण पर्याप्त हैं। एक बार जब गोवर्धन में गोस्वामी विट्ठल नाथ जी की अनुपस्थिति में भक्तों ने उनके जन्मोत्सव का आयोजन किया तो उसके लिए आपस में विशेष चंदा हुआ। सभी भक्तों और शिष्यों में सम्भवतः कुंभन दास जी का ही परिवार सबसे बड़ा था, इस कारण यही सबसे अधिक दरिद्री भी थे फिर भी इन्होंने अपने कष्ट की कोई चिन्ता नहीं की और घर में जो दो पड़िया और दो बछड़े थे उन्हें ५) में बेचकर वे रुपये श्री नाथजी की जबेलियों के भोग के लिए समर्पित कर दिये। बाद में लौट कर जब गुसाँई जी ने कुंभन दास जी की भाव-भक्ति की ये कथा सुनी तो वे स्वयं गद्गद् होगये।

यद्यपि कुंभन दास जी के सात पुत्र थे, परन्तु वे सदा अपने डेढ़ पुत्र ही बतलाते थे, क्योंकि छः पुत्र संसारी थे। केवल चतुर्भुज दास ही उनकी भावभक्ति के अनुसार उनके सच्चे अनुयायी थे। इसलिए वे उन्हें अपना एक पुत्र और कृष्णदास को—जो श्री नाथजी के मन्दिर की गायों को चराया करते थे, आधा पुत्र मानते थे।

एक बार कृष्ण दास श्री नाथजी की गाय चराकर लौट रहे थे, कि मार्ग में एक सिंह गायों पर झपट पड़ा। यह देख कर कृष्ण दास ने उसका सामना किया और गायों की रक्षा में अपने प्राण होम दिये। यह समाचार जब कुंभन दास जी के पास पहुँचा तो वे श्री नाथजी के मन्दिर से कीर्त्तन करके नीचे उतर रहे थे। समाचार सुनते ही वे शोक-विह्वल होकर मूच्छित हो गये। तुरन्त उपचार किये गये, परन्तु कोई लाभ न हुआ। विट्ठल-नाथ जी तक खबर हुई, वे तुरन्त समझ गये कि बात क्या है? वे पहुँचते

ही कुंभन दास से बोले—"कुंभन दास ! सकारे श्री नाथजी के दरसन कों आइयों जो तुमको श्री गोवर्धननाथ जी के दरसन करवावेंगे।"[1] यह सुनना था कि कुंभन दास जी ने एक दम आँख खोल दीं, क्योंकि उन्हें तो पुत्र के मरने का नहीं, वरन् जब तक पुत्र का दशगात विधान न हो तब तक श्री नाथ-जी के दर्शनों से वंचित रहना ही सबसे अधिक असह्य और दुखदायी था। कुंभन दास जी जैसी अनन्य हरि-निष्ठा अन्यत्र दुर्लभ है।

अष्टछाप के कवियों में कुंभन दास जी सबसे अधिक दीर्घ-जीवी और वयोवृद्ध थे।[2] ये लगभग ११५ वर्ष जीवित रहे। इनकी मृत्यु संवत् १६४० के लगभग हुई। इनके पदों का एक संग्रह गत वर्षों में ही विद्या-विभाग, कॉकरौली से प्रकाशित हुआ है। यद्यपि यह संग्रह इनकी पूरी रचनाओं का संकलन नहीं माना जा सकता, फिर भी कुंभन दास जी का एक मात्र उपलब्ध व प्रकाशित संग्रह होने के कारण ये महत्त्वपूर्ण है।

कवि कुंभन दास भगवान् राधा-कृष्ण की मधुर-लीला के सरस गायक के रूप में अष्टछाप में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जहाँ अन्य कवियों की दृष्टि श्याम सुन्दर की बाल-लीला पर अधिक केन्द्रित रही वहाँ इन्होंने राधा-कृष्ण के संभोग और शृंगार का सरस वर्णन किया है। सम्भवतः यह सख्य-भक्ति के आदर्श हैं, इसीलिए भगवान् से इनकी खुली छूट रही है। जब औरंगजेब के भय से श्री नाथजी को भैंसे पर चढ़ाया गया और मन्दिर से हटा कर भक्त लोगों ने उन्हें 'टोंड के घने' नामक एक निर्जन में पधराया तो कुंभन दास जी ने श्री नाथजी का यों उपहास किया था—

भावत है तोहि टोंड कौ धनों।
काँटे बहुत गोखरू लागे, फट्यौ जात ये तनों।
सिंहहि कहा लोंमरी कौ डर, यह कहा बानिक बनों।
'कुंभनदास' तुम गोवर्धनधर, वह तौ रॉड़ ढेढ़नी कौ जनों।।

---

१. चौरासी वैष्णवन् की वार्त्ता संवत् १७५२ की द्वारिका दास परीख द्वारा संपादित व प्रकाशित प्रति पृष्ठ; ८८३।"

२. विद्या-विभाग कॉकरौली द्वारा प्रकाशित 'कुंभनदास'; पृष्ठ २४।

महाकवि कुंभन दास जी की एक जीवन-झाँकी—

पात्र-परिचय

कुंभन दास : वल्लभाचार्यजी के शिष्य, अष्टछाप के प्रसिद्ध भक्त-कवि।

भतीजी : कुंभन दास जी के भाई की एक बाल-विधवा कन्या जो कुंभन दास जी के ही पास रहती थी। इसका नाम जमुना बतलाया जाता है।

रामदास : सम्राट् अकबर के दरबारी गायक, जिन्हें भ्रमण-वश कुछ विद्वानों ने अष्टछाप के प्रसिद्ध महा कवि सूरदास का पिता समझ लिया है।

सम्राट् : भारत के प्रसिद्ध मुगल-सम्राट् अकबर।

राजपुरुष : सम्राट् अकबर का एक उच्च पदाधिकारी।

दूत, परिचारक आदि

पहला दृश्य

[भारत-सम्राट् अकबर अपनी नव-निर्मित राजधानी सीकरी में अन्तरंग सभासदों के साथ एक सुवासित और सुसज्जित कक्ष में विराजमान हैं। परिचारक पंखा झल रहे हैं, पास ही पीकदान व हुक्का रखा है, सम्राट् विश्राम-मुद्रा में हैं। रामदास गा रहे हैं—]

(राग धनाश्री)

रामदास : देख री आवनि मदन गुपाल की।

सक्रवाहन गति निरख, लाजत गजगति
अनूप लटक चाल की।
स्याम-तन कटि-बसन मनहरन सुंदरता
उर श्रीमाल की।
भौंह धनुस सजि मनहुँ मदन सर चितवनि
लोचन बिसाल की।
रेनु-मंडित कुंतल, अलक शोभा
केसर कौ तिलक भाल की।
'दास कुंभन' चारु रास मोहे जगत,
गोवर्धनधर कुँवर रसाल की।

अकबर : वाह रामदास, जैसा सुन्दर ये विष्णु-पद है, वैसी ही तल्लीनता से तुमने इसे गाया भी है। इस पद में कन्हैया की छवि इस प्रकार चीती गई है, मानों कवि ने अपनी आँखों से स्वयं

लटक चाल से चलते गोपाल को आते देखकर, उसकी तसवीर बनाई हो।

रामदास : आपका कथन सही है, जहाँपनाह। सचमुच कुंभन दास ऐसे ही सिद्ध महाकवि हैं, जिनकी साधना की भाव-भूमि में साधक और सिद्धि घुल-मिलकर एक हो गये हैं। कुंभन दास और कृष्ण में अब कोई भेद नहीं रहा इसकी साक्षी स्वयं गिरिराज गोवर्धन की एक-एक शिला बन गई है, सम्राट्।

अकबर : हमारा सौभाग्य है कि हमारे शासन-काल में ऐसे-ऐसे महाकवि और भक्त मौजूद हैं। रामदास यह साहित्य और संगीत के धनी गिरिराज से कितनी दूर रहते हैं ?

रामदास : गिरिराज गोवर्धन के निकट ही जमुनावते गाँव के एक कच्ची स्वच्छ कुटी के बासी कुंभन दास अपने गाँव के पास ही परासौली में कृषि करते हैं सम्राट्! वैसे श्री नाथजी के मंदिर में कीर्त्तन करना ही उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र व्यवसाय मान लिया है, जहाँपनाह। उससे जो समय बचता है, उसे ही वे परिवार के भरण-पोषण के लिए खेती में लगाते हैं।

अकबर : तब तो वे गृहस्थ-भक्त हैं। संसार में रह कर भी उससे दूर। हम ऐसे महापुरुष से मिलना चाहते हैं। (**घण्टा बजाता है**) दूत आता है।

दूत : शाहंशाह की जय हो।

अकबर : दूत, तुम जाकर अबुलफजल साहब से कहो कि ब्रज के जमुनावते गाँव के निवासी भक्त कुंभनदास से हम शीघ्र मिलना चाहते हैं। उन्हें राजकीय सम्मान से राजधानी में बुलाने का दो-चार दिन के अन्दर ही प्रबन्ध किया जाय।

दूत : जो आज्ञा। (जाता है)

[**यवनिका गिरती है।**]

दूसरा दृश्य

[जमुनावते गाँव में एक कच्चे चबूतरे के एक ओर स्वच्छ-सा छप्पर पड़ा है जिसके नीचे एक फटी-सी ऊँची धोती पहने नग्न-शरीर कुंभन दास जी कुशासन पर प्रसन्न मुद्रा में विराजमान हैं। पास ही तुलसी का विरवा वायु के झोंकों में झूम रहा है और उसी के साथ गिरिराज जी की एक शिला रक्खी है जिस पर पुष्प चढ़े हैं, धूपबत्ती जल रही है, कुंभन दास जी की भतीजी आती है।]

भतीजी : काका जी ! तुम अबै ताँऊ खेत पै नाँय गये, काकी कहि रही ऐ कै वैसें ई घर में कौन कम कंगाली ऐ, और जु कहूँ ठाड़ी फसल ऊ ढंग ते न रखाई गई तौ का ये पूरी गृहस्थ दोऊ छाक फाके करेगी।

कुंभन दास : मैं जाय रह्यों ऊ लल्ली । भजन में बिलम्ब है गयौ। देख जो गिरधरलाल की इच्छा होयगी, बुही है कै रहैगौ, बामें रंच-मात्र हू हेर-फेर नहीं है सकै। ये बात समझाय दै अपनी काकी कू ।

भतीजी : काका जी, काकी तौ त्यारी सब बातन्नें समझी समझायी बैठी ऐ, तुम्हारी जग्गे कोऊ दूसरौ होतौ न, तो हमें फटी फरिया और सूखी जौ की रोटी न खानी पड़तीं और न तुमकू ई जा बुढ़ापे में रात-दिना खेत में हाड़ कारे करने पड़ते । सब भैया घर बैठे खीर-खाँड खाते । पर त्यारौ तौ कछू लच्छमी ते पुरानों बेर ऐ ।

कुंभन दास : तू कैसी बात कर रही ऐ बेटी, कौन ऐसौ पिता होयगौ जो अपने बच्चान कू दुखी देखनौं चाहैगौ ।

भतीजी : तौ काका, बा दिना बु आमेर कौ राजा मानसिंह मेरे सामुहीं जब परासौली में खेत पै तुमते मिलिबे आयौ, तौ तुमने बाकौ कित्तौ तिरस्कार कर्यौ। बिचारे ते सीधे म्हौं बोले तक नाँय ? बाने अपनी हीरान की आरसी दयी सो न लयी । मौहरन की थैली त्यारे आगें धरी सो बगदायी और गाँम देवे की कही सोऊ न लियौ, उल्टी बाते जि और कहि दयी 'कै आज पाछें कभू हमते मिलियो मति ।' काका, बु तौ राजा बड़ौ भलौ मानुष औ जु हँसतौ भयौ चलौ

गयौ । नहीं तौ काकी कहि रही कै वा दिना त्यारे पीछे हम सबकी ऊ जेल भयी धरी ।

कुंभन दास : (**हँसते हैं**) अरी बाबरी बेटी, तू यहा भेद कू कहा समझै । धन के प्रति असक्ति ही तौ पतन और क्लेस कौ मूल ऐं । बेटी ! दान लेनों ब्राह्मण कू सोभा देय है । हम तौ गोरवा-छत्री हैं । छत्री कौ काम ऐ पृथ्वी कौ पालन करिबौ, न कै दूसरे के टूकन पै स्वयं पलिबौ ।' हमें जब सहस्रभुजाधारी श्री गोवर्धनधर स्वयं कृपा करिकै मीसी रोटी और जमुना-जल दै रहे हैं, गर्मी के लयें करील और ठंड के लयें बेर के झाड़ ब्रज में पेंड-पेंड पै हमारे मोदी बने ठाड़े हैं तौ फिर हम कौन के आगे हाथ पसारें ? (**पुचकारते हुए**) जा अब तू भीतर जा । काकी ऐ समुझाय दीजो, और मेरौ सोठा नेक उलायत ते दै जा, कीर्तन की घड़ी होत आय रही है, भगवान गोवर्धनधर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हुँगे । कीर्त्तन के पीछें फिर खेत पै ऊ जानों ऐ ।

भतीजी : अच्छौ, मैं अबई लाई सोठी काका जी । (**जाती है**)

[नेपथ्य में कोलाहल, घोड़े पालकियों व सैनिकों का शब्द]

कुंभन दास : (**सुनकर कुछ चौंकते से**) आज या नीरव शान्त गाँम में अबई-अबई जि कहा हो-हल्ला हैबे लग्यौ । जि घोड़ा, हाथी, रथ, पालकी कैसे चले

आय रहे ऐं। या निर्धन गाँम पै आज कौन की दीठ पड़ गई।

भतीजी : **(लकड़ी लेकर भागती आती है)** काका जी, हमारे भाग जगि गये। अब जुग-जुग के दरिद्दर दूर है जान्गे। देखौ तुम्हें बुलायबे के ताईं सीकरी ते जि कित्ता रथ, मँझोली और सिपाही आये ऐं। तुम्हें भारत-सम्राट् अकबरशाह ने बुलाऔ ऐ।

कुंभन दास : **(सन्न होकर)** हे गोवर्धनधर, प्रभो! आनन्द तैं रहते भये मोय जि कौन-सी विपदा में फाँस दियौ। भला त्रिलोकीनाथ के राज-दरबार के कीर्त्तनियाँ कुंभन दास कौ फतैपुर सीकरी के वा छुद्र दरबार में कहा काम? ये कौन अपराध कौ फल दै रहे हौ प्रभू?

राजपुरुष : **(आकर)** बाबा कुंभन दास जी, प्रणाम।

कुंभन दास : भगवान त्यारौ कल्यान करें भैया। कहौ कहा बातै?

राजपुरुष : बात नहीं, प्रार्थना है महाराज और वो भी मेरी नहीं, शाहंशाहे हिन्दोस्तान सम्राट् जलालुद्दीन अकबर की।

कुंभन दास : कहा?

राजपुरुष : यही कि टूटी छान में रहने वाले कलाकार को सीकरी के राजमहल में सम्मान दिया जाय। सम्राट् आपकी कविता पर लट्टू हैं और यह

जान कर कि आप जितना अच्छा लिखते हैं, उतना अच्छा गाते भी हैं, आपके ही मुख से आपकी रचना सुनने को वे उत्सुक हैं।

कुंभन दास : भैया, जि मेरौ बड़ौ भाग ऐ जो मोय बादस्या ने बुलवायौ, पर भैया हम भोरे ब्रजबासीन को बा राज-दरबार ते कहा प्रयोजन ? तू मेरी ओर ते देसाधिपति ते कहियो कै कुंभन दास कू दरबार ते कछू प्रयोजन नायें, बु मोय छमा करें। मैं म्हाँ नाँय चल सकूँगो।

राजपुरुष : आप कैसी भूली-भूली बात कर रहे हैं बाबा। बड़े-बड़े नरेशों के मुकुट-मणि जिनकी चरण-रज चूमने के लिए सदा आतुर रहते हैं, कला को जिन्होंने अपने दरबार में चेरी करके रख छोड़ा है, उन अकबर महान् के सम्मान का ये तिरस्कार ?

कुंभन दास : उत्तेजित चौं होत हौ भैया। देखौ मेरी ये कानि है जो बिना श्री गोवर्धनधर कों देखे मैं एक पल हू रहि नहीं सकूँ। न या नटखट ऐ मेरे बिना सरै है, न मोय याके बिना। जाते मैं देसाधिपति के सम्मान कू स्वीकार करिबे में एक दम असमर्थ ऊँ।

राजपुरुष : **(कुछ विवशतापूर्ण कातरता के साथ)** परन्तु यह कष्ट सह कर भी आपको हमारी रक्षा तो

करनी ही पड़ेगी। बिना आपकी कृपा के हमारी रक्षा असंभव है।

कुंभन दास : सबकौ रक्षक मुरलीबारौ ऐ भैया। बताऔ तुम्हें कष्ट कहा ऐ ?

राजपुरुष : जब सम्राट् सुनेंगे कि ये इतने व्यक्ति गये और चेष्टा करके कुंभन दास जी को यहाँ तक ला भी नहीं सके, तो हमारी अयोग्यता की गहरी छाप उनके मन में जम जायेगी। तब हमें कुछ भी दण्ड मिल सकता है, प्राण-दण्ड भी।

कुंभन दास : (**कान पर हाथ रख कर**) श्री गोविन्द, श्री गोविन्द ! ये राजवृत्ति ऊ बड़ौ निकृष्ट कर्म ऐ। अच्छौ भैया चाहे मेरी बनती बने बिगड़ती बिगड़े। कछू ऊ होय, मैं त्यारे संग सीकरी थोड़ी देर कू चलुंगो, पर चलुंगो श्री नाथजी को कीर्त्तन करिकै। वैष्णव को कर्त्तव्य ऐ कै बु जान होम के ऊ दूसरे की रच्छा करै। तुम डरौ मति, मैं अवस्य चलुंगो।

राजपुरुष : आपकी इस कृपा के लिए हम आपके बड़े ऋणी हैं कुंभन दास जी ! आप सचमुच महापुरुष हैं। आप जाकर आनन्द से श्री गोवर्धननाथजी की सेवा कीजिये, तब तक हम भी लौटने का प्रबन्ध पूरा करते हैं।

कुंभन दास : अच्छौ भैया तौ मैं तौ चलौ, आज कीर्त्तन के ताईं भौत विलंब है गयौ ऐ।

राजपुरुष : ठीक है आप जाइये कुंभन बाबा, परन्तु ये और बताते जाइये कि रथ, हाथी, घोड़ा, पालकी, मँझोली आदि में से किस सवारी में आप सीकरी पधारना पसन्द करेंगे ।

कुंभन दास : **(व्यंग्य मिश्रित हँसी)** भैया, ये सब सबारी तौ तुम लोगन कू ई सोभा देंय हैं । मैं तौ न कभू इनपै बैठौ और न बैठूं । मैं तो त्यारे संग पैदल ई चलुँगो, सीकरी ।

राजपुरुष : हम आपके नियम में बाधा नहीं डालेंगे, जैसे भी आपकी इच्छा हो आप पधारें ।

कुंभन दास : अच्छी बात ऐ । तौ मैं गोवर्धनधर की सेवा करिकै आऊँ हूं । **[जाते हैं ।]**

[धीरे-धीरे यवनिका गिरती है, पार्श्व में संगीत की निम्न ध्वनि गूँजती है जो धीरे-धीरे उभर कर फिर बंद होजाती है ।]

(राग नट)

रूप देखि नैना पलक लगें नहीं ।
गोबर्धनधर के अंग अंग प्रति, निरखि नैन मन रहत तहीं ।।
कहा री कहौं कछु कहत न आवै, चित चोर्यौ वे माँग वही ।
'कुंभन दास' प्रभु के मिलिबे की, सुन्दर बात सखियन सों जु कही ।।

तीसरा दृश्य

[फतहपुर-सीकरी के दीवाने-खास में सम्राट् अकबर का दरबार लगा है। सम्राट् स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन कुछ राजकीय दस्तावेज देख रहे हैं। महामन्त्री अबुलफजल पार्श्व में खड़े हैं। कुछ प्रमुख दरबारी बैठे हैं, परिचारक परिचर्या में रत हैं।]

दूत : जहाँपनाह की जय हो !

सम्राट् : (निगाह चढ़ाकर प्रश्नसूचक दृष्टि से घूरते हैं)

दूत : जहाँपनाह, ब्रजवासी भक्त कुंभन दास जी आपकी आज्ञानुसार उपस्थित हैं।

अकबर : उन्हें आदर के साथ उपस्थित किया जाय।

दूत : जो आज्ञा ! (जाता है, कुंभन दास जी के साथ आता है)

कुंभन दास : देसाधिपति की जय होय। (हाथ जोड़कर अभिवादन करते हैं)

अकबर : पधारिये कुंभन दास जी, ये सीकरी आपका इस्तेकबाल करती है। यहाँ के वातावरण में अब तक आपके लिखे पद गूँजते थे परन्तु गैरों की स्वर लहरी में। आज खुद आपके मुँह से आपका संगीत सुनकर हम धन्य होंगे। विराजिये, झिझकिये नहीं, उस मोती की झालर वाली ऊँची रावटी पर विराजिये।

कुंभन दास : रावटी ! (हँसते हैं) जि तौ तिहारेई बैठे ते सोभा

पामें बादस्या, कहाँ हम और कहाँ ये रावटी। रज ते बनों ये सरीर तो रज पै ई बैठबे योग्य ऐ। जब अन्त में या रज कूँ रज में ई मिलनों ऐ, तो थोड़े दिनन के तांई बाय सोने के आसन पै धरिकै अहं कू पालिबे ते कहा प्रयोजन ?

(पृथ्वी पर बैठते हैं।)

एक मन्त्री : तुम्हारी बात ठीक हो सकती है कलाकार, परन्तु यह राज-दरबार है। यहाँ की कुछ अपनी मर्यादायें होती हैं। ये फटी पाग, मैला पिछोरा और गली-सड़ी जूतियाँ पहने राज-दरबार में आकर तुमने पहला और फिर इस प्रकार राजाज्ञा के विरुद्ध भूमि पर बैठ कर दूसरा अपराध किया है।

कुंभन दास : है सकै है कै त्यारी दृष्टि में मेरौ आचरण अपराध होय। पर याते भीषण अपराध तौ पहले स्वयं बादस्या कर चुके ऐं। भगवान् गोवर्धनधर की सेवा छुड़ाय कै मेरी इच्छा के विरुद्ध मोय यहाँ बुलबायौ, ब्रज के कदम्ब और तमाल के सीतल तरुवरन की छैंयाँ छुड़ाय कै स्वार्थ और अहं ते तपती या भूमि पै मोय बैठायबौ और हृदय-हीनता ते भरी स्वाभाविकता ते कोसन दूर या तड़क-भड़क में मोय भ्रमायबौ का कोऊ कम बड़ौ अपराध है।

अकबर : मन्त्री, कुंभन दास जी राज्य के अतिथि हैं।

राज्य के सामान्य नियम सर्वसाधारण के लिए हुआ करते हैं। विशेष व्यक्तियों के लिए विशेष नियम सदा से रहते आये हैं। (**कुंभन दास की ओर देखकर**) बाबा साहिब ! वाकई आपको यहाँ पधारने में बड़ा कष्ट हुआ, परन्तु क्या बताऊँ उस दिन रामदास से आपका पद सुन-कर आपको देखने की लालसा बहुत बढ़ गई थी। इसीलिए आपको ये कष्ट देना पड़ा। अब कृपा करके अपने मुखारविंद से कुछ सुनाइये।

कुंभन दास : बादस्या ! तोय कहा सुनाऊँ। मोय तौ ऐसौ लगै, कै काऊ ने तोय बहकाय दियौ ऐ। भैया, मेरे पास त्यारे सुनायबे जोग्य है ही कहा। मैंने तो आज तक प्रिया-प्रीतम की लीलाही गायी एँ, सो बिनें ब्रज ते बाहर मैं गाऊँगो नहीं और देख मोय काहू ते कछू लेनों होय तौ बाकी चाटुकारिता करूँ याते सिवाय गोपाल के गुनन के और कछु मैं गाऊँगो नहीं।

अकबर : फिर भी कुछ तो कहिये ही बाबा साहब, कोई छोटी सी चीज ही सही।

कुंभन दास : (**सोचकर**) अच्छौ जो ये ही आग्रह है तौ फिर सुन लेउ। (**तानपूरा उठाकर गाते हैं**)

भक्तन कों कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैया टूटीं, बिसरि गयौ हरि-नाम ॥

या कौ मुख देखे दुख उपजै, ताकों करन परी परनाम।
'कुंभन दास' लाल गिरधर बिन, यह सब झूठो धाम ॥

अकबर : (**गम्भीर भाव से**) ठीक है, तुम ठीक कहते हो बाबा साहिब, बिना भगवान् के यह सब राज-वैभव, धन-धाम झूठा है। कहिए अब मेरे लिए क्या आज्ञा है ? आप जैसी भी जो सेवा बतलावें, मैं करने को तैयार हूँ।

कुंभन दास : तौ का तू साँचेऊ मेरी सेबा करैगो बादस्या ? जो मैं चाहूँ बुही ?

अकबर : बेशक, आप कह डालिये।

कुंभन दास : बस्स तौ मेरो यही कहनो ऐ बादस्या ! कै आज तें पीछे तू कभू फिर मोय याँ मत बुलइयो। (**नेपथ्य में बंसी बजती है**) हाय, हाय, भगवान् गोवर्धनधर म्हाँ मेरी बाट जोहि कै मोय बंशी में टेर रहे ऐं और मैं अभागौ याँ आय फस्यौ ऊँ। अच्छौ बादस्या तौ मैं अब चलौ।

[कुंभन दास एक दम कातरता में बाहर निकल जाते हैं, अकबर सहित सब हतप्रभ से खड़े हो जाते हैं, तभी निम्न पद नेपथ्य में सुनाई पड़ता है—]

(राग धनाश्री)

कब हौं देखि हों इन नैनन।
सुन्दर स्याम मनोहर मूरति, अँग-अँग सुख दैननु ॥
वृन्दावन-विहार दिन-दिन प्रति, गोपवृन्द संग लेननु।
हँसि हँसि हरखि पतौवनि पीवनु, बाँटि-बाँटि पय फेंननु ॥

'कुंभन दास' केते दिन बीते, किए रेन सुख सैननु।
अब गिरधर बिन निसि अरु बासर, मन न परत कछु चैननु ।।

[सब सुनते रहते हैं। धीरे-धीरे, स्वर धीमा पड़ जाता है, यवनिका का धीरे-धीरे पतन।]

: २ :

पारस पत्थर

स्वामी हरिदास : एक परिचय—रसिक-शिरोमणि भक्त हरिदास जी का जीवन-वृत्त विवादास्पद विचार-धाराओं और धारणाओं के कारण पूर्ण रूप से प्रामाणिक रूप में निश्चित नहीं किया जा सका है, फिर भी उपलब्ध तथ्यों की समीक्षा के उपरान्त हमारे मत से स्वामी जी का जीवन-वृत्त निम्न प्रकार है :

स्वामी जी के पूर्वज मूल रूप से पंजाब के निवासी थे जो कुछ कारणों से बाद में जिला अलीगढ़ के एक खेड़े में बस गये और यहीं राधा-अष्टमी[२] के दिन स्वामी हरिदास जी का जन्म हुआ। हरिदास जी जैसी विभूति को जन्म देने के कारण अब यह स्थान 'हरिदासपुर' हो गया है। हरिदास जी के पिता का नाम आशुधीर, माता का नाम गंगा-देवी और जाति ब्राह्मण[३] थी। भक्त लालदास का कहना था—

---

१. यह नाटक स्वामी हरिदास जी की जीवनी से संबंधित एक घटना पर आधारित है। स्वामी जी का जीवन-परिचय ऊपर दिया जा रहा है।

२. स्वामीजी का जन्म किस संवत् में हुआ यह ठीक पता नहीं चलता। मिश्रबन्धु और वियोगी हरि जी ने इनका जन्म संवत् १५३७ लिखा है। उधर अकबरकालीन इतिहास ग्रन्थ 'किराते सिकन्दरी व किराते अकबरी' में इनका जन्म पौष शुक्ला १३ भृगुवार संवत् १५६९ लिखा है। हमें संवत् १५६९ तो ठीक प्रतीत होता है परन्तु उक्त जन्म-तिथि को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। स्वामी जी द्वारा संस्थापित 'टट्टी स्थान' पर राधा-अष्टमी को ही स्वामी जी का जन्म-दिवस भव्य मेले के रूप में प्राचीन परम्परा के अनुसार मनाया जाता है और ब्रज में अनुश्रुति भी यही प्रचलित है कि स्वामी जी राधा-अष्टमी को जन्मे थे।

३. स्वामीजी सनाढ्य थे या सारस्वत इस सम्बन्ध में जब तक मतभेद है, तब तक उन्हें ब्राह्मण कहना ही उचित प्रतीत होता है।

"ज्यों गोकुल नन्दराय कें, कृष्ण कियौ परकास।
भक्ति हेतु त्यों प्रगट भै, आशू के हरिदास।।"

कहा जाता है कि स्वामी जी जन्म जात हरि-भक्त थे। वे प्रायः एकान्त वास करते हुए भाव-मग्न रहना पसन्द करते थे। बहुत आग्रह किये जाने पर भी इन्होंने विवाह नहीं किया और घर से विरक्त होकर 'मान-सरोवर' पर निवास करने लगे। अपने पिता की अनुमति से ये संवत् १५९४ के आस-पास विरक्त हुए।

'मान-सरोवर' से बाद में स्वामी जी वृन्दावन के निधिवन में आ बसे जो अपनी वन्य शोभा और सुषमा के कारण आज भी कम आकर्षक नहीं है। वृन्दावन में स्वामी जी अनुमानतः ९५ वर्ष की अवस्था तक—संवत् १६६४ तक—विराजे और इसके उपरान्त निकुंज-लीला में निमग्न हो गये।

स्वामी हरिदास जी के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस पुस्तक में हुआ है। इसके अतिरिक्त योगी प्रकाशानन्द की प्रथम भेंट जिसमें वे योगाभ्यास से मोर बनकर स्वामी जी के पास आये और स्वामी जी से पराभूत हुए, योग और भक्ति की तुलनात्मक महत्ता में भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाली महत्त्वपूर्ण घटना है।[1]

स्वामी हरिदास जी अपने समय के अद्वितीय संगीतज्ञ और कवि थे। तानसेन और 'बैजू बावरा' जैसे शिष्य भारतीय संगीत को स्वामी जी की ही देन माने जाते हैं। कहा जाता है कि जब अकबर स्वामी जी का संगीत सुनकर लौटे तो मार्ग में तानसेन से उन्होंने पूछा—'तानसेन, तुम उतना अच्छा क्यों नहीं गाते जितना तुम्हारे गुरु।' तब तानसेन बोले 'जहाँपनाह! मैं केवल आगराधीश्वर के लिए गाता हूँ, जब गुरुदेव जगदीश्वर के लिए गाते हैं।' वास्तव में तानसेन की यह मार्मिक उक्ति बड़ी महत्त्व की है। भक्ति का पुट स्वामी जी के काव्य और संगीत का प्राण है।

---

१. घटना के विशेष विवरण के लिए देखिये 'नई राधा', वर्ष ५, अंक ६, में लेखक का लेख 'स्वामी हरिदास जी'।

भक्तों में स्वामी जी को 'ललिता सखी' का अवतार माना जाता है। श्री भगवत् रसिकजी ने, जो इनकी शिष्य-परम्परा में प्रसिद्ध कवि थे, लिखा है—

"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य-किशोर उपासना, युगल-मंत्र कौ जाप॥"

वृन्दावन में स्वामी जी ने श्री बिहारी जी का विग्रह प्रगट किया था, जो आज भी वृन्दावन वासियों के प्रमुख इष्टदेव हैं। रासलीला के पुनरुद्धार और विकास में भी स्वामी जी ने विशेष भाग लिया। वे वर्त्तमान रासलीला के संस्थापकों में से थे।[1]

स्वामी जी ने वृन्दावन में 'टट्टी-स्थान' की स्थापना की जो इनके गृह-त्यागी विरक्त शिष्यों का केन्द्र है तथा बिहारी जी का मन्दिर इनके गृहस्थ्य शिष्यों द्वारा सेवित है। स्वामी जी के सम्प्रदाय को कुछ व्यक्ति निंबार्क संप्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं और कुछ विष्णु-स्वामी के। हमारी राय में ये एक स्वतन्त्र 'रस-भक्ति' पर आधारित संप्रदाय है।

स्वामी जी के पदों का संग्रह 'केलि-माल' के नाम से छपा है, परन्तु इस पद-संग्रह को पदों के स्थान पर ध्रुपदों का संग्रह कहना अधिक ठीक है। स्वामी जी की कविता को साधारण रूप से पढ़ने पर उसमें कुछ छन्द-भंग सा प्रतीत होता है, जो भ्रममात्र है, क्योंकि राग और ताल की कसौटी पर वह पूर्णतः खरी उतरती है। स्वामी जी ने 'अष्टादस सिद्धान्तों के पद' नाम से केवल अठारह पद लिखे हैं जो इनके भक्ति सिद्धान्तों के मूलाधार हैं।

---

१. मथुरा में विश्रान्त घाट पर प्रथम बार जब रासलीला का आयोजन नयी पद्धति से किया गया तो उसमें स्वामी जी उपस्थित थे ऐसा प्रसिद्ध रासधारी राधाकृष्णदास ने 'रास-सर्वस्व' में लिखा है—

"तब स्वामी हरिदास कियौ, शृंगार प्रिया कौ।
श्री आचरज कियौ, स्वयं मोहन रसिया कौ॥"

भक्त हरिदास जी की जीवन-झाँकी के कुछ अंश

पात्र-परिचय

हरिदास : भारत के प्रसिद्ध संगीत, कवि, एवं प्रसिद्ध भक्त।
तानसेन : सम्राट् अकबर के राज-गायक, स्वामी जी के शिष्य।
माधोदास : स्वामीजी का एक [काल्पनिक] शिष्य।
ख्यालदास : दिल्ली के एक धनी सेठ, स्वामी जी के भक्त।
कायस्थ : स्वामी जी के एक भक्त।
अकबर : भारत-सम्राट्।
कृष्ण : स्वामी जी के इष्टदेव।
चोर आदि कुछ अन्य पात्र

[वृन्दावन में यमुना-तट पर सघन लता-कुंजों के पुंज में 'निधिवन' का एक दृश्य। सामने ही तरु-लताओं से वेष्ठित एक कच्चे किन्तु लिपे-पुते स्वच्छ चबूतरे पर एक छोटी कुटी में कोपीन लगाये नग्न-शरीर हरिदास जी अपने एक शिष्य माधोदास के साथ विराजमान हैं। एक ओर छोटे से सिंहासन पर सालिग्राम का श्री विग्रह सुशोभित है, दूसरी ओर एक तानपूरा और मिट्टी का करुआ रक्खा है जो सम्भवतः स्वामी जी की एकमात्र सम्पत्ति है। स्वामी जी आत्म-विभोरता में कुछ सुधि भूले-से तल्लीन बैठे हैं। आश्रम की छत पर—जो फूँस का एक छप्पर मात्र है—बन्दर किलकारी मार रहे हैं। मोर, कोयल, कपोत, केकी, सारिका आदि अनेक पक्षी रह-रहकर कुहुक उठते हैं।]

हरिदास : वत्स माधोदास ! हमारौ धन्यभाग जो स्यामा-स्याम की रस-सिद्ध क्रीड़ा-भूमि श्री वृन्दावन की इन सघन कुंजन ते सोभायमान जा निधिवन में निवास करिवे कौ हमें सौभाग्य प्राप्त भयौ ऐ।

माधोदास : हाँ बाबा ! एक तौ भगवान कुंज-बिहारी की ये भूमि वैसें ही मन-मोहक है, फिर आपकी स्वर-लहरी से सिंचित है कैं तौ ये और ऊ दिव्य है गई है। मानौ यहाँ अहर्निस अमृत ही बरसतौ होय।

[बन्दर और मयूर पुनः उच्च स्वर से चहकते हैं।]

हरिदास : आ हा हा ! कैसी रम्य बन-भूमि ऐ जि श्री-वृन्दावन। ये मोरऊ पीयू पीयू करि कैं ऐसे बोलें मानों मेरे कुंजबिहारी कूँई टेर रहे होंय और जि मर्कटऊ आपस में मगन भये कैसी किलकारी भर रहे ऐं ? भरेंऊ चौंन, जि सब मेरे कुंज-बिहारी के श्री हस्त सों ब्रज-बधूटिन कौ अमृत तुल्य सद् माखन छक छक के अमर जो हैं।

[तभी बादल की गर्जन सुनाई पड़ती है, हल्की बूँदें पड़ने लगती हैं, पक्षी मग्न होकर और कुहुकने लगते हैं]

माधोदास : लेउ बाबा ! या सामन की रिम-भिम ने तौ और ऊ आनन्द करि दियौ। जड़, चैतन्य सभी मगन है गये हैं। कैसी सुहावनी नन्हीं-नन्हीं पानी की फुइयाँ बर्स रही ऐं।

हरिदास : पानी तौ सर्वत्र ही बर्सैं है बेटा, पर श्री वृन्दावन में तौ आज ये अमृत-वर्षा सी है रही ऐ। ला नेक उठाय तौ सही मेरौ तमूरा।

माधोदास : जो आज्ञा **(तानपूरा देते हुए)** लेउ बाबा।

हरिदास : **(तानपूरा हाथ में लेकर भाव-विभोर हुए गाते हैं)**

(राग मलार)

ऐसी रितु सदा सर्वदा जो रहै बोलति मोरन।
नीके बादर, नीकौ धनुष चहूँ दिसि, नीकौ श्री वृन्दावन
आछी नीकी मेघन की घोरनि ॥

आछी नीकी भूमि हरी हरी,
आछी नीकी बूढ़िनि की रेंगनि, काम की रोरनि।
श्री हरिदास के स्वाँमी-स्याँमा-कुंज-बिहारी के मिलि गावत,
जम्यौ राग मलार किसोर-किसोरनि ॥

[स्वामी जी गाना समाप्त करते हैं। उसी बीच दिल्ली के सेठ द्यालदास का प्रवेश।]

द्यालदास : स्वामी जी दण्डवत ! (भूमि पर लेटकर साष्टांग प्रणाम करता है।)

हरिदास : कुंज-बिहारी तुम्हें सदा सुखी रक्खें सेठ द्यालदास। कहौ कब आये दिल्ली ते ? सब आनन्द तौ है।

द्यालदास : महाराज ! आपके चरण-रज की शरण लेने पर फिर दुःख टिकता ही कहाँ ? आपके दर्शनार्थ सीधा ही दिल्ली से चला आ रहा हूँ प्रभो, (कुछ संकोच के साथ) अब तो मेरी यही हार्दिक इच्छा है कि आपकी सेवा में लग कर मेरे इस तन और धन का सदुपयोग हो। मेरी ये तुच्छ भेंट स्वीकार करिये रसिकाचार्य ! (पारस मणि सामने रख देता है।)

हरिदास : जि का भगवान 'सालिगराम' की बटिया लाये औ भक्त, मेरी भेंट कूँ।

द्यालदास : नहीं रसिकाचार्य ! ये भगवान सालिग्राम नहीं 'पारस-मणि' का एक टुकड़ा मात्र है जिसका स्पर्श मात्र लोहे को कंचन कर देता है महा-

राज। आज इस मणि को आपकी सेवा में समर्पित करके मैं स्वयं आपके सत्संग रूपी संस्पर्श से अपने लोहवत् कलुषित हृदय को कंचन बनाना चाहता हूँ।

हरिदास : ठीक ऐं, (**व्यंग से**) तब तौ तुम भौत मूल्यवान भेंट लाये औ सेठजी।

द्यालदास : हाँ महाराज, इससे बढ़ कर मेरे पास और कोई मूल्यवान वस्तु नहीं है।

हरिदास : तो हमें त्यारी भेंट स्वीकार ऐ (**मणि को उठाते हैं और पीछे की ओर फेंक देते हैं। मणि कल-कल करती यमुना में जा गिरती है। छपाका होता है, द्यालदास और माधोदास दोनों ही हतप्रभ से उधर देखते रह जाते हैं।**)

हरिदास : (**मीठे स्वर में मुस्कराते हुए**) सेठ द्यालदास ! तुम घबराये से चौं हौ। भैया, तुमने अपनी प्रिय बस्तु मोय भेंट ही कर दयी तौ फिर बु तौ मेरी है गयी, और मैंने बाय भगवती भानु-नंदिनी कू भेंट कर दयी। अबऊ या मणि में तुम्हारौ इतनों ममत्व चौं है ?

द्यालदास : (**हताश और बेबसी से**) महाराज, मैं जब दिल्ली से इस मणि को आपकी भेंट के लिए लेकर चला, तो सोचता था कि इस भेंट से आप को वृन्दावन बास में सुविधा होगी। इसके प्रभाव से निधिवन वासी साधुओं, मोर व बंदरों

के भोजन की व्यवस्था सहज ही में हो सकेगी। बिहारी महाराज के भोग राग का भव्य विधान होगा, और आप सब प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर वृन्दावन वास कर सकेंगे। परन्तु मेरी सारी इच्छायें मन की मन में ही रह गईं स्वामी जी !

हरिदास : सेठ बात तौ तिहारी ठीक है। हमने तौ ये सब ऊँच-नींच सोचीई नायीं। (**कुछ सोचकर**) अच्छौ तौ ऐसें करौ नेक सेठ, तनक जमुना-जल में पैठ कै खोजौ तौ स्यात् कहूँ मणि पाय ही जाय। अबई बही तौ न होयगी।

द्यालदास : जो आज्ञा महाराज ! (**कपड़े उतारकर यमुना में कूदता है, डुबकी लेकर**) महाराज, पारस मणि तो यहाँ दीखती नहीं। जल में पचासों छोटे-बड़े कंकड़-पत्थर हैं। इनमें भला अब वो मणि कहाँ मिलेगी।

हरिदास : तौऊ कोई चिन्ता नायें सेठ ! जो मणि नाँय मिलै तौ डुबकी लगाय कै जितनेऊ कंकड़-पत्थर तुम्हारे हाथ में आय सकें उन्हीं कू बटोर लाओ।

द्यालदास : जो आज्ञा। (**फिर गोता लगाता है, पस्सों में पत्थर भर कर जल से बाहर आता है**) हैं ये तो सभी पत्थर पारस जैसे ही चमकदार हैं। क्या बात है ये ?

हरिदास : क्यों सेठ द्यालदास ! कहा असमंजस में औ ?

इन पारस मणिन में ते अपनी मणि पहचान कै लै आऔ न ?

द्यालदास : **(सब पत्थरों को पानी में पटकता है और भागकर स्वामी जी के चरण पकड़ लेता है)** मेरा अपराध क्षमा कीजिये भगवन् ! आपकी कृपा से यमुना का एक-एक कंकड़ ही जब पारस-मणि बन सकता है तो क्या मैं अधम अब भी लोहा ही बना रहूँगा, नाथ ! स्वामी जी आपकी कृपा से आज मेरी आँख खुल गई। धन में से मेरी आसक्ति समाप्त हो गयी है, प्रभो ! अब तो मुझे अपनाइये।

हरिदास : सेठ द्यालदास आज तक त्यारे हृदय में अहं कौ बासौ हो, आज से अब यहाँ श्री कुंज-बिहारी सुखेन बसें ये ही मेरौ आशीष ऐ।

[तभी श्यामसुन्दर की मुरली सुनाई पड़ती है।]

सब : बोलो रसिकाचार्य स्वामी हरिदास जी की जय !

रसिकाचार्य

[होली की ऋतु में निधिवन का प्रकृति ने सुन्दर शृंगार किया है। केसू के पीत-पुष्प खिल रहे हैं। कुटी के ही निकट एक शिला पर बैठे स्वामी हरिदास जी तन्मय भाव से गा रहे हैं।]

(राग काह्नरौ)

दिन ढ़फ-तार बजावत, गावत,
भरत परसपर छिन-छिन होरी।
अति सुकुमार बदन श्रम बरसत,
भले मिले रसिक किसोर-किसोरी॥
बातन बत-बतात राग-रंग रमि रह्यौ,
इत उत चाइ चलत तकि खोरी।
सुनि हरिदास तमाल स्याँम सों,
लता लपटि कंचन की थोरी॥

[गाना समाप्त करके तानपूरा रखकर उन्मुक्त की भाँति देखते हैं जैसे कोई घटना घट रही हो। इसी बीच माधोदास आते हैं।]

माधोदास : बाबा, एक कायस्थ जन आपके दरसन कू पधारे एं।

हरिदास : (तन्मयता की मुद्रा में) बेटा, आज स्वामिनी

स्याँमा जू अपने प्रियतम स्याँम के संग होरी लीला कौ आनन्द लै रही ऐं, दोऊ ओर ते पिचकारी चल रही ऐं और कुमकुम फिक रहे ऐं। जा, जो भी जीव या लीला कौ आनन्द लेंनो चाहै बाय लेंन दें। (**फिर तन्मय हो जाते हैं।**)

माधोदास : जो आज्ञा, बाबा !

हरिदास : (**भाव-विभोर होकर**) आहा, आज कैसी दिव्य होरी है रही ऐ, रस बरस रह्यौ ऐ। (**कुछ रुक कर उतावले से होकर**) जि······जि कहा भयौ। स्याँमा जू की पिचकारी कौ रंग रीति गयौ।

[**कायस्थ आता है, प्रणाम करके बैठता है परन्तु हरिदास-जो भाव-विभोर ही हैं।**]

कायस्थ : बाबा, ये इत्र की शीशी आपकी भेंट है, आशा है कृपा करके अंगीकार करेंगे।

हरिदास : (**एक दम आतुरता में**) इत्र, कहाँ ऐ इत्र, बड़े अच्छे समै ते लाये। (**शीशी को खोलकर इत्र को भूमि पर उँड़ेल देते हैं और फिर हँसते हैं।**)

कायस्थ : अपराध क्षमा करें स्वामी जी, मैं इस इत्र को आपके इष्टदेव पर चढ़ाने की लालसा से लाया था, परन्तु न जाने मुझ से ऐसी क्या चूक बनी, जिसके कारण आपने उसे भूमि पर उँड़ेल दिया। मेरी भेंट तक आपको स्वीकार नहीं हुई।

हरिदास : **(स्वस्थ होकर)** भक्त, हमने ये इत्र अस्वीकारौ नहीं है। या कू स्याँमा स्याम कूँ ई अरप्यौ ऐ। या समें जब होरी-लीला में स्वामिनी जी की पिचकारी को रंग रीति गयौ तौ हमने तेरौ ये इत्र स्वामिनी जी कू दै दियौ और या कू स्वयं स्वामिनी जू ने अपने श्री हस्त सों बिहारी जी पै छिड़क्यौ ऐ, तू जा और बिहारी जी के दर्सन करि।

[स्वामी जी के इतना कहते ही पार्श्व में बिहारी जी की झाँकी के पट खुलते हैं। सब खड़े हो जाते हैं। घंटा घड़ियालों की ध्वनि से सारा वातावरण गूँज जाता है। कुछ क्षण उपरान्त ही पुनः पट बन्द हो जाते हैं। पूर्व वातावरण।]

कायस्थ : धन्य है स्वामी जी। आपकी कृपा से आज मेरा इत्र साक्षात् हरि ने स्वीकार किया, कौन आज मुझ से अधिक भाग्यवान है। बिहारी जी के वस्त्रों से निश्चय ही मेरे ही इत्र की दिव्य लपटें उठ कर सब वातावरण को गंध-युक्त कर रही हैं।

हरिदास : बच्चा ! भगवान् सदा ते ई भाव ते समर्पी वस्तु कू सिर चढ़ाय कै गृहण करते आये एं। याही ते वे भक्तवत्सल कहे जाँयें।

कायस्थ : ये सब आपकी ही कृपा का फल है, महाराज ! अब मुझे आज्ञा दीजिये, प्रणाम। **(जाता है)**

हरिदास : कुंजबिहारी तेरौ कल्यान करें।

[घोड़ों की टापों का स्वर]

माधोदास : (**प्रसन्न मुद्रा में**) बाबा, ओ बाबा ! बाबा, आज तौ तन्ना आय रह्यौ ऐ। बु देखौ कैसे घोरा दौड़े आय रहे ऐं।

हरिदास : तन्ना ! तानसेन, सम्राट् अकबर कौ राज-गायक तानसेन। आमन देउ।

[**तानसेन आते हैं साथ में छद्म वेष में तँबूरा लिये सम्राट् अकबर भी हैं।**]

तन्ना : (**भूमि पर लेटकर**) प्रणाम गुरुदेव !

हरिदास : तेरी कीर्ति जमुना की धारा की तरह अचल रहै बेटा तानसेन ! कहौ आज राज-गायक या कुटी की ओर कैसें ?

तानसेन : क्यों काँटों में खींच रहे हैं गुरुदेव ! मेरा इतना सौभाग्य कहाँ जो इन चरणों की साया में बैठकर धन्य हो सकूँ। कहाँ यह आपका नैसर्गिक आश्रम और कहाँ कंठ तक षड़यंत्रों और कुचक्रों में फँसा हमारा नारकीय जीवन।

हरिदास : ऐसे मति कहौ तानसेन ! तुम भारत-सम्राट् के राज-गायक हौ।

तानसेन : परन्तु मेरा यह पद त्रैलौक्य-सम्राट् भगवान् श्याम सुन्दर की राजधानी श्री वृन्दावन के राज-गायक गुरुवर हरिदास जी से बहुत छोटा है।

हरिदास : (**हँसकर**) अरे बेटा तन्ना ! तू तौ राज-दरबार में रहि कै बड़ौ बाचाल है गयौ। पहलें तौ तू सूधौ बोलिबौ ऊ नहीं जानै हो। अच्छौ जि तौ

बता तेरे संग जि कौन ऐ। **(अकबर की ओर इंगित करते हैं)**

तानसेन : **(कुछ सकपका कर)** गुरुदेव ! ये अकबरा ऐ। या कू अपनों तँबूरा उठायबे के ताईं संग लै लियौ हो। याकी ऊ आपके दर्सन की बड़ी इच्छा ई।

अकबर : महात्मा जी, प्रणाम् !

हरिदास : अजेय रहौ बेटा ! पर तन्ना याके ये अजानु-बाहु और वृषभ-कंध का तमूरा कौ ही भार ढोयबे कू हैं।

अकबर : महात्माजी ! यदि साधारण बाहुओं से ही आप के गुणी शिष्य तानसेन का यह तँबूरा उठा लिया गया तो और गवैयाओं और तानसेन में अन्तर ही क्या रहेगा ? आपके शिष्य के तँबूरा को उठाने वाले की बाहु तो समर्थ ही होनी चाहिये।

हरिदास : ठीक ऐ ! मैं त्यारे भाव कू समझूँ हूँ। पर बेटा तन्ना, पृथ्वी के भार ते शेष कू ऊ फन तौ बदलनौ ई पड़े। या ते अब अपने अकबरा ऐ नेक विश्राम दे और या ते तानपूरा लै कै कछु सुना तौ। तो ते संगीत सुने तौ जुग बीत गये।

तानसेन : जो आज्ञा। **(अकबर से तँबूरा लेकर गाता है)**

(राग केदारौ)

रोंम रोंम जो रसना होती, तौऊ तेरे गुन न बखाने जात।
कहा कहौं एक जीभ सखी री, बात की बात बात॥

[तानसेन जान कर के 'बात की बात बात' में तात चूक जाता है और गाना बंद कर देता है]

हरिदास : बेटा, गाते-गाते रुक चों गये ?

तानसेन : महाराज जब गाते-गाते 'बात की बात बात' में ही बात बिगड़ गई तो आगे कैसे गाऊँ ?

हरिदास : डर का ऐ तन्ना । गा बेटा, राग अधूरा नहीं छोड़ो जाये, नहीं तौ राग श्राप दे देय है ।

तानसेन : गुरुजी ! जब ताल चूक गई और रागिनी पंगु ही हो गयी तो वह आगे चले कैसे ? अब तो बिना आपकी कृपा के पार नहीं पड़ सकती । मेरी नाव तो सदा आपके सहारे ही पार लगी है, गुरुदेव ! इसलिए अब आप ही इस राग को भी पूरा पाड़िये ।

हरिदास : तू बड़ौ चतुर ऐ तन्ना । सीधे ई ढंग ते यौं नाय कहै के अब तुम गाओ ? ला, मोय दै तँबूरा ।

[तानसेन स्वामी जी को तँबूरा देते हैं, स्वामी जी गाते हैं। जैसे-जैसे गाने का वेग बढ़ता है पशु-पक्षी, वृक्ष-लता सभी स्तम्भित हो जाते हैं ।]

रोम रोम जो रसना होती,
तौऊ तेरे गुन न बखाने जात ।
कहा कहों एक जीभ सखी री,
बात की बात बात ॥
भानु स्त्रमित और ससि हू स्त्रमित,
भई और जुबति जात ।

श्री हरिदास के स्वाँमी स्याँमा कहत री,
प्यारी तू राखत प्रान जात ।।

[धीरे-धीरे गाना समाप्त होता है । कुछ क्षण सब स्तम्भित रहते हैं । हरिदास जी धीरे से तँबूरा रख देते हैं ।]

हरिदास : (हँसकर) कहौ भारत-सम्राट् ! हमारौ गानों तुम्हें अच्छौ लग्यौ ?

अकबर : (लज्जित) क्षमा कीजिये स्वामी जी ! आपके जिस संगीत को सुन कर कृष्ण कन्हैया अपनी बाँसुरी भूल कर आपके पीछे फिरना चाहते हों उसे सुन पाना भी हमारा अहोभाग्य है । हम आपके संगीत के भक्त हैं, प्रशसंक नहीं ; आज इसलिये तो हम सम्राट् होकर भी तानसेन के नौकर बने हैं । हम छल से आपके आश्रम में आये हैं, पर जिससे छलिया नंद किशोर का छद्म भी नहीं छिप पाता उससे हमारा क्या छिपता ? भक्त लोग आपको ललिता सखी का अवतार बतलाते हैं यह कितना सही है, ये आज हमने स्वयं आकर देख लिया है। हम वेष बदल कर आपकी कुटी में आये इसके लिए हम आपसे क्षमा चाहते हैं ।

हरिदास : ये कुटी, हम तुम सब वा कुंज बिहारी के हैं, बादस्या । फिर जामें कैसी और काहे की छमा । जाओ और सुख ते राज करौ ।

सम्राट् : आपकी महर के लिए आपको धन्यवाद है

महात्मन् ! परन्तु हमारी बड़ी इच्छा है कि हम आपकी कुछ सेवा करें। हमें कुछ आज्ञा कीजिये स्वामी जी महाराज !

हरिदास : तुम अपनी और अपनी प्रजा की सेवा करौ। जीव मात्र पै दया कौ भाव राखौ जि ही सबते बड़ी सेवा ऐ। सदा दीन और दीनबन्धु कू एक समझौ। तुम्हारौ कल्यान होयगौ। (**अकबर हाथ जोड़कर मस्तक झुकाते हैं**)

तानसेन : गुरुजी महाराज ! सम्राट् के लिए कोई छोटी-सी आश्रम की सेवा बता सकें तो इससे इन्हें बड़ा संतोष होगा।

हरिदास : जो तुम्हारे सम्राट् कौ जिही आग्रह है तौ आज ते श्री वृन्दावन के मोर-बन्दर भूखे न रहें जि प्रबन्ध ये कर दैं।

अकबर : जो आज्ञा (**दोनों प्रणाम करके जाते हैं, स्वामी जी आशीर्वाद देते हैं। सूर्य ढल जाता है। रात्रि की साँय-साँय होती है। स्वामी जी कुटी से बाहर शिला पर मृग-चर्म बिछाकर सो जाते हैं। कुछ ही देर में दो चोर आते हैं।**)

पहला चोर : (**धीरे-धीरे**) नेंक हौलें, बाबा जग न जाय।

दूसरा चोर : तौ बोलै चौं है। वा पारस पत्थर ऐ ढूँढ़ या कुटी में, जाते जे दरिद्दर कटे जनम जनम कू।

पहला चोर : चल तौ भीतर कुटी में अचक ई अचक।

[**दोनों पारस मणि खोजने कुटी में जाते हैं परन्तु वह**

नहीं मिलती। अन्त में सालिग्राम की बटिया को ही पारस समझकर पूजा के सिंहासन से उठा लाते हैं।]

दूसरा चोर : **(बाहर निकलकर)** पहलें जाँच तौ कर लेउ जि पारस है ऊ कै नायँ।

पहला चोर : बिना लोहे के जाँच होय कैसें ?

दूसरा चोर : देख बु बाबा की कोपीन टँग रही ऐ लोहे की कील पै। बाते छ्वाय कै देखौ। **(दोनों छुआते हैं, स्वामी जी खाँसते हैं। चोर सालिग्राम को एक झाड़ी में डाल कर भाग जाते हैं।)**

हरिदास : **(उठकर)** बेटा माधोदास !

माधोदास : हाँ, बाबा !

हरिदास : बेटा, स्नान करि आयौ होय तो आज तू ही ठाकुरजी कौ उत्थापन कराय लै। मोय आज कछु बिलंब है गयौ लगै।

माधोदास : जो आज्ञा, बाबा ! **(कुटी में जाकर खाली सिंहासन देखकर बाहर लौटता है)** बाबा, ठाकुर जी तौ आज सिंहासन में हत नायें। न जाने कहाँ अन्तर्ध्यान है गये।

हरिदास : **(व्याकुल होकर)** हैं, मोय सोतौ छोड़ कै कहाँ गये कुँज बिहारी ? मोते ऐसी कहा चूक बन गई ?

[स्वामी जी और माधोदास विह्वल होकर इधर-उधर खोजते हैं, सहसा झाड़ी में एक दम प्रकाश होता है और कृष्ण प्रगट हो जाते हैं।]

कृष्ण : रसिकाचार्य।

हरिदास : (**एकदम चौंककर**) कौन, मेरे कुंज बिहारी, मोय छोड़ कै कहाँ चले गये हे दीनबन्धु !

कृष्ण : रसिकवर ! तुम कैसी भूली-भूली बात करौ हौ। का मैं एक छिन कू हू तुमते दूर हूँ। जब तुम गाऔ हौ तौ मैं त्यारी कुटी में आय कै त्यारौ गान सुनू हूँ। जब तुम रास-लीला रचाऔ हौ तौ मैं अपने पाँयन में घूँघरू बाँध के प्रिया जी और सब सखीन के संग नाँचू हूँ। जब खबाऔ तब खाऊ हूँ, सुबाऔ हौ तब सोऊँ हूँ। दुनियाँ मेरे पीछे भजै है पर मैं त्यारे पीछे भजूँ हूँ।

हरिदास : धन्य है भक्त-वत्सल ! मेरे कुंज बिहारी लाल ! मैं तो तिहारौ एक चेरौ भर ही तौ ऊँ—

(**राग विभास**)

ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हौ,
त्यों ही त्यों ही रहियतु हैं, हो हरि।
और अचरचै पाइ धरौं,
तुम तौ कहौं कौन के पैंड भरि॥
जदपि हौं अपनौ भायौ कियौ चाहौं,
कैसे करि सकौं, सो तुम राखौ पकरि।
कहि हरिदास पिंजरा के जनावर लौं,
तरफराइ रह्यौ उड़िबे कों कितोउ करि॥

[**हरिदास प्रणाम करते हैं और भगवान मुरली बजाते हुए एक हाथ से अभयदान देते हैं।**]

: ३ :

कन्दुक-क्रीड़ा[1]

हित हरिवंश जी हिन्दी-भाषा के उन महाकवियों और वैष्णव-भक्ति-संप्रदायों के आचार्यों में अग्रगण्य हैं, जिन्होंने साहित्य और वैष्णव-धर्म दोनों पर ही अपने व्यक्तित्व की गहरी और चिर-स्थायी छाप छोड़ी है। हरिवंश जी के पिता केशव दास मिश्र जो 'व्यास जी' के नाम से सर्व-विख्यात थे, सहारनपुर जिले के देवबन्द नामक स्थल के निवासी थे। व्यास जी एक बार जब अपनी पत्नी तारावती के साथ ब्रज-यात्रा को आये तभी मथुरा जिले के बाद[2] गाँव में बैशाख शुक्ला ११ संवत् १५५९[3] को हरिवंश जी का प्रादुर्भाव हुआ।

हित जी के पिता व्यास जी किसी बादशाह के—जिसका नाम हित हरिवंश जी के किसी प्राचीन चरित्र-लेखक ने लिखने की कृपा नहीं की—राज-ज्योतिषी व राज-वैद्य थे। घर में मान-प्रतिष्ठा व धन-धान्य की कमी न थी, इसलिये हित जी का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से हुआ। इनके पिता ने बड़ी मनौती मानकर इनका मुख देखा था इसलिये ये पूरे परिवार की आँखों के तारे रहे।

---

१. यह नाटक महाप्रभु हित हरिवंश जी की जीवनी पर आधारित है। महाप्रभु का संक्षिप्त जीवन-वृत्त यहाँ दिया जा रहा है।

२. 'कविता कौमुदी', प्रथम भाग, पृष्ठ २२३ पर पं० राम नरेश जी त्रिपाठी ने इनका जन्म-स्थान सम्भवतः 'मिश्रबन्धु विनोद' के आधार पर देवबन्द लिख दिया है, परन्तु यह धारणा ठीक नहीं। त्रिपाठी जी द्वारा दी हुई जन्म-तिथि भी सही नहीं है।

धर्म-रहित जानी सब दुनी। जहाँ 'बाद' प्रगटे जगधनी ॥

—हित जी के अनन्य भक्त 'सेवक' जी की वाणी से

३. कुछ विद्वान् हित जी का जन्म संवत् १५५३ वि० भी मानते हैं (देखिये ब्रजमाधुरी-सार में 'हित हरिवंश) परन्तु नवीन शोधों के अनुसार यह संवत् ठीक प्रतीत नहीं होता।

यद्यपि हित जी बचपन में खेल-कूद के ही प्रेमी थे, वे न कभी मन लगाकर पढ़े और न कभी किसी सांसारिक प्रलोभन की ओर आकर्षित हुए फिर भी अपने सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण बचपन में ही बड़े-बड़े व्यक्तियों के वे स्वयं श्रद्धा के केन्द्र बन गये थे। जब वे केवल एक अबोध दुध-मुँहे शिशु ही थे, तब भी 'राधा' नाम सुन कर किलकारी देने या मुस्कराने लगते। पाँच वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने देवबन्द में एक कूप से भगवान् रंगीलाल जी का देव विग्रह खेल ही खेल में प्रगट कर दिया था। यह देव विग्रह अब भी देवबन्द में हित जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी के वंशजों द्वारा पूजित और सेवित है। तत्कालीन एक संत 'ज्ञानू' भी जो हित जी की परीक्षा की भावना से क्रीड़ा-रत बालक हरिवंश के पास उनके बाग में गये थे, बाग के स्थान पर साक्षात वृन्दावन में रास-नृत्य में लीन लीला पुरुषोत्तम की झाँकी पाकर स्तम्भित होकर उलटे लौट आये थे।[१] जब इनके पिता व्यास जी के घनिष्ट मित्र 'पूरण पंडित' ने व्यास जी को यह प्रेरणा दी कि वे बालक हरिवंश को केवल ज्योतिष के ही चक्कर में न रखे रहें वरन् उसे साहित्य का भी पंडित बनावें तो बालक हरिवंश ने सात वर्ष की वय में ही तत्काल दो छन्दों में नवग्रहों की अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही अवस्थाओं का छन्द-बद्ध वर्णन करके अपने ज्योतिष व काव्य-रचना ज्ञान का एक साथ परिचय देकर उन्हें आश्चर्य-विमुग्ध कर दिया था। इसी प्रकार जब इनके पिताजी के विद्यागुरु आचार्य हरिदास जी को व्यास जी ने इन्हें पढ़ा देने का काम सौंपा और वे यह देख कर झख मार गये कि खेल-प्रिय हरिवंश को कुछ पढ़ा सकना असम्भव है तो उनके खीजने पर इन्होंने 'मैं क्या विद्या पढ़ना चाहता हूँ' यह उसी समय स्वरचित दो श्लोकों में सुना दिया था,[२] तब वे भी मन ही मन ये समझ गये थे कि वास्तव में

---

१. देखिये चाचा हित वृन्दावनदास जी कृत 'हित सहस्र-नाम' तथा अप्रकाशित प्राचीन ग्रंथ उत्तम दास जी कृत 'श्री हित हरिवंश चरित'।

२. कहा जाता है कि 'राधा सुधानिधि' ग्रंथ का प्रारम्भ इन्हीं दो श्लोकों से हुआ

वे बालक के नहीं वरन् बालक हरिवंश ही उनका सच्चा गुरु है।

इस प्रकार हरिवंश जी का बाल्य-काल उनकी प्रखर प्रतिभा और दिव्य व्यक्तित्व की आकर्षक घटनाओं से परिपूर्ण है। स्वयं राधा रानी ने इन्हें स्वप्न में मन्त्र देकर दीक्षित किया था ऐसा भक्तों का विश्वास है। इनके जन्म से पूर्व ही इनके सबसे बड़े ताऊ श्री-नृसिंहाश्रय ने—जो एक गृह-त्यागी-सिद्ध संत और भगवान् नृसिंह के भक्त थे—व्यास जी के यह कहकर हताश होने पर कि 'मैंने अच्छी तरह ज्योतिष द्वारा जाँच लिया है, मेरे भाग्य में संतान लिखी ही नहीं है। हाँ, यदि आप की कृपा हो जाय और भाग्य के कुटिल अंक बदल जाँय तो असम्भव भी अवश्यम्भावी है," यह भविष्यवाणी की थी कि तेरे घर अवश्य ही एक अवतारी पुरुष जन्म लेगा।

हित जी कृष्ण-भक्ति-मार्ग में राधावल्लभीय संप्रदाय के संस्थापक थे जो रस-भक्ति के दिव्य मर्म पर आधारित एक रस-सिद्ध स्वतन्त्र सम्प्रदाय है।[1] भगवान् राधावल्लभ लाल जी इस सम्प्रदाय के उपास्य देव हैं। राधावल्लभ जी हित हरिवंश जी के ठाकुर हैं जो वृन्दावन पधारते समय मार्ग में 'चिरथवल' गाँव में उन्हें एक ब्राह्मण द्वारा दहेज में दिये गये थे। हित जी ने स्वप्न में भगवत्-प्रेरणा पाकर वृन्दावन पधारते समय इस ब्राह्मण की दोनों कन्याओं का पाणि-ग्रहण करके उनके साथ ही राधावल्लभ जी प्राप्त किये थे और कार्त्तिक शुक्ला १३ संवत् १५९० में धूमधाम से वृन्दावन में उन्हें पधराया था।

वृन्दावन में ये ही एक ऐसे महात्मा थे जो गृहस्थ बन कर रहे किन्तु फिर भी बड़े-बड़े विरक्तों को इन्होंने प्रभावित किया। वृन्दावन के साथ-

---

जो हित जी ने अपने आचार्य हरिदास जी को बाल्य-काल में सुनाये थे। बाद में समय-समय पर उसमें और श्लोक जुड़ते गये।

१. देखिये श्री किशोरी शरण 'अलि' द्वारा संपादित 'साहित्य-रत्नावली' की भूमिका।

साथ मानसरोवर से भी इनका बड़ा लगाव था और वहाँ ये प्रायः विचरते थे। वृन्दावन पधारने के उपरान्त हरिवंश जी ने अपनी रस-भक्ति के द्वारा भक्तों को विभोर और विमुग्ध कर दिया। हित जी ने अपने सम्प्रदाय की अधिष्ठात्री रासरसेश्वरी राधा को मान कर कृष्ण-भक्त-कवियों के लिए एक नव्य रस का द्वार खोल दिया। वृन्दावन में हित जी ने भगवान् श्याम सुन्दर के लीलास्थल सेवा-कुँज, रास-मंडल, शृंगारवट, वंशीवट, धीर-समीर, मानसरोवर, हिन्दोल-स्थल तथा वन-विहार प्रगट किये[1] जो आज भी भक्तों के आकर्षण और श्रद्धा के केन्द्र हैं।

लगभग ८० वर्ष की अवस्था में हिताचार्य हरिलीला में लीन हो गये, इनके लीला-संवरण का संवाद रसिक भक्तों ने बड़े कष्ट और असह्य वेदना के साथ सुना। इनकी मृत्यु के समाचार पर इनके प्रमुख शिष्य प्रसिद्ध कवि हरिराम व्यास की प्रतिक्रिया निम्न पद के रूप में व्यक्त हुई—

हुतौ रस रसिकन कौ आधार।
बिन हरिबंसहि सरस रीति कौ, कापै चलि है भार।।
को राधा दुलराबै, गाबै, बचन सुनाबै चारु।
वृन्दावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार।।
पद-रचना अब कापै ह्वै है, निरस भयौ संसार।
बड़ौ अभाग्य अनन्य सभा कौ, उठिगौ ठाठ-सिंगार।।
जिन बिन दिन-छिन जुग सम बीतत, सहज रूप-आगार।
व्यास एक कुल-कुमुद-चन्द्र बिनु, उडुगन जूठौ थार।।

हित जी ने यद्यपि 'राधा सुधानिधि' संस्कृत में और केवल ८४ पद हिन्दी में लिखे हैं, परन्तु ये ८४ पद ही कवि के रूप में उन्हें सदा अजर-अमर रखेंगे। ये पद ब्रजभाषा साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन

---

१. देखिये ब्रजभारती, वर्ष १३, अंक ३ में प्रकाशित श्री किशोरी शरण 'अलि'-कृत लेख 'वृन्दावन'।

पदों की अद्वितीय भावुकता और साथ ही भाषा का ऐसा सुगठन और लालित्य और तो और ब्रजभाषा के सूर्य 'सूर' में भी नहीं मिलता। जिस महानुभाव ने यह वाक्य कहा होगा 'और कवि गढ़िया। नन्ददास जड़िया।।' संभवतः उन्हें हरिवंश जी के पद पढ़ने का सौभाग्य नहीं हुआ होगा।

हित हरिवंश जी के बाल्य-काल की कुछ झलकियाँ—

पात्र-परिचय

हरिवंश	: प्रसिद्ध कवि, राधावल्लभीय संप्रदाय के संस्थापक।
व्यास जी	: हरिवंश जी के पिता, राज-ज्योतिषी।
तारावती	: हरिवंश जी की माँ, व्यास जी की धर्मपत्नी।
नृसिंहाश्रय	: व्यास जी के विरक्त बड़े भाई, हरिवंश जी के ताऊ और नृसिंह भगवान् के सिद्ध भक्त।
ज्ञानू संत	: उस युग के एक नामी संत।
पूरण पंडित	: व्यास जी के घनिष्ठ बाल-मित्र और साहित्य के तत्कालीन विद्वान।
आचार्य हरिदास	: व्यास जी के व हरिवंश जी के वयोवृद्ध शिक्षक।
राधिका	: भगवान् कृष्ण की प्राणवल्लभा, हरिवंश जी की दीक्षा-गुरु व इस सम्प्रदाय की अधिष्टात्री देवी।

[इसके अतिरिक्त, रघु, बालक, भीड़ के कुछ व्यक्ति आदि विभिन्न पात्र, जिनके नाम प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं होते।]

[देवबन्द के एक सुनसान पथ के निकट एक चौगान है, इधर-उधर कुछ वृक्ष खड़े वायु के झोंकों से झूम रहे हैं, पास ही एक कूप है। हाथ में लाठी लिये विरक्त वेष में कुछ विस्मित मुद्रा में संत ज्ञानू आते हैं।]

ज्ञानू : व्यास जी ब्रज-यात्रा को क्या गये, अपने भाग्य की रेखा ही बदल लाये। दुनियाँ ही क्या, स्वयं व्यास जी भी तो अपनी जन्मपत्री देखकर बार-बार यही कहा करते थे, कि मेरे भाग्य में संतान है ही नहीं, फिर भी व्यास जी के पुत्र हुआ, और वह भी विलक्षण। दिन पर दिन इस बालक को भगवान् मानने वाले बढ़ते ही जा रहे हैं, और आज तो मैंने स्वयं अपनी आँखों से जो चमत्कार देखा है, उसके स्मरण मात्र से ही शरीर रोमाञ्चित होने लग जाता है। मन कहता है कि मैं भी हरिवंश के चरणों में लोट जाऊँ। पर,...पर...लोट कैसे जाऊँ। दुनियाँ मेरे जन्म में क्या थूकेगी कि ज्ञानू जैसा संत एक नादान बालक के चरण चूम रहा है। यह क्या माया है, कुछ समझ में नहीं आ रहा ? बुद्धि विमोहित हो गई है। मैं हरिवंश के वश में कुछ वैसे ही फँस-सा गया हूँ, जैसे ब्रह्मा वृन्दावन में

गोपाल के सखा और गाय-वत्सों में विमोहित हो गये थे ।

[**हरिवंश के ताऊ वयोवृद्ध विरक्त संत नृसिंहाश्रय आते हैं ।**]

नृसिंहाश्रय : (**संत ज्ञानू को देख कर**) ओहो, ज्ञानू संत ! आज आप यहाँ कहाँ ? मार्ग में यों सुधि-बुद्धि भूले भ्रमित-से कैसे ?

ज्ञानू संत : क्या बताऊँ नृसिंहाश्रय जी ! बात कहते संकोच भी होता है, और बिना कहे मन भी नहीं मानता, बुद्धि विमोहित हो गई है । क्या सत्य है और क्या असत्य, इसका निर्णय कर सकने में आज पहली बार इसने (**माथे पर हाथ रख-कर**) अपनी असमर्थता प्रकट करदी है ।

नृसिंहाश्रय : यदि कोई गुप्त बात न हो, तो मैं आपकी समस्या का हल खोजने का कुछ यत्न करूँ ।

ज्ञानू संत : आपसे क्या छिपाना है, नृसिंहाश्रय जी, आप तो समदृष्टि भक्त हैं । बात यह है कि आपके भतीजे बालक हरिवंश को संसार ने सिद्ध, योगी और भगवान् तक मानना आरम्भ कर दिया है । परन्तु आप सोचिये तो इस कलि काल में भगवान् कहाँ और किसे मिलते हैं, नृसिंहा-श्रय जी ? दुनियाँ की इन बातों को सुन-सुन-कर मेरे कान दूखने लगे, मन में भाँति-भाँति के कौतूहल उत्पन्न होने लगे और तब आज

मैं आखिर बालक हरिवंश की परीक्षा लेने अपनी कुटिया से निकल ही पड़ा।

नृसिंहाश्रय : हूँ, फिर क्या हुआ ?

ज्ञानू : हुआ क्या नृसिंहाश्रय जी, यहाँ आकर सुना कि बालक हरिवंश अपने बाग़ में बालकों के साथ खेल रहा है। मैं भी वहीं जा पहुँचा। दूर से देखा तो बालकों के टोले में हरिवंश गेंद से खेलता दिखलाई दिया, परन्तु जैसे ही मैं बाग के द्वार पर पहुँचा, वहाँ तो कुछ नजारा ही बदल गया।

नृसिंहाश्रय : अच्छा ?

ज्ञानू : क्या कहूँ, महाराज, बाग में पाँव रखते ही मुझे लगा कि मैं व्यास जी के बाग में नहीं, वरन् श्री वृन्दावन पहुँच गया हूँ। बालक हरिवंश, उनके साथी और गेंद न जाने कहाँ विलीन हो गये और उस वृन्दावन धाम में रास-नृत्य संलग्न भगवान् रास-विहारी के साथ रास-रसेश्वरी राधिका रानी व गोपियों के यूथ के यूथ के मुझे प्रत्यक्ष दर्शन हुए। मैं एक टक देखता रहा और भगवान् रस-मग्न हुए नाचते रहे।

नृसिंहाश्रय : तब आप धन्य हैं ज्ञानू संत, आज आपको देह-धरे का फल मिल गया। आप भगवान् के परम कृपा पात्र हैं।

ज्ञानू : कैसे कहूँ, न जाने यह प्रत्यक्ष था या स्वप्न, मेरी

आँखें धोखा खा रही थीं या संसार की, कुछ समझ में नहीं आता ! वहाँ मार्ग में निकलने वाले व्यक्तियों से जब मैंने पूछा कि तुम्हें ये रास कैसा लगा, तो वे ताली बजाकर हँस पड़े। एक ने तो यहाँ तक कहा कि आप सठिया गये हो ज्ञानू संत। ये बच्चे गेंद खेल रहे हैं या ये रास है ? परन्तु मुझे तो वह प्रत्यक्ष रास ही दीखता रहा।

नृसिंहाश्रय : परन्तु इसमें स्वप्न की या उद्विग्नता की कौनसी बात है ज्ञानू जी। जितने भी संसारी जीव उस मार्ग से उस समय निकले, वे दूसरे कामों से जा रहे थे, परन्तु तुम तो केवल बाग में परीक्षा के लिये ही गये थे। इसीलिये तुम्हारी स्थिति तो उन सब से भिन्न थी न ? फिर उनसे तुम्हारी क्या तुलना ?

ज्ञानू : यह तो ठीक है, परन्तु आपके इस कथन का, जो मैंने वहाँ देखा उससे क्या सम्बन्ध ?

नृसिंहाश्रय : बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है ज्ञानू जी, भगवान् की लीला रहस्यमय है। वह यों ही सब को कैसे दीखती ? तुम ही तो केवल भगवत् लीला के उस रहस्य को जानने के लिए गये थे। भगवान् ने तुम्हें उस रस-रहस्य को समझने का अधिकारी समझ कर उसे दिखला दिया। शेष

राहगीर अनधिकारी थे, वे उस लीला को नहीं देख सके ।

ज्ञानू : तो क्या आप भी हरिवंश को भगवान् ही मानते हैं ।

नृसिंहाश्रय : (हँसकर) ज्ञानू संत ! तुम इस भेद को नहीं जानते । व्यास जी के भाग्य में तो कोई संतान थी ही नहीं । तब व्यास जी रात-दिन इसी व्यथा से उद्विग्न रहते थे । एक दिन वे मेरे पास आये, और दुखी होकर बोले, मेरा वंश कैसे चलेगा दादा ? तब मुझसे उनका कष्ट न देखा गया । इसीलिये उस दिन जब मैंने समाधि लगाई, तो व्यास जी का दुख ही मेरे मस्तिष्क में था । तभी ध्यान में स्वयं नृसिंह भगवान् ने पधार कर मुझे कहा था कि नृसिंहाश्रय चिन्ता न करो और व्यास जी से कह दो कि उनके घर एक अवतारी महापुरुष जन्म लेगा । उसी दिन व्यास जी को मैंने ये बात बतला दी थी, और आज वर्षों बाद हरिवंश-जन्म के रूप में भगवान् नृसिंह का वह वचन फला है । इसमें सन्देह की कोई बात ही नहीं है ज्ञानू संत ! हरिवंश निस्सन्देह असाधारण हैं ।

ज्ञानू : तब तो मैं भी आज से महाप्रभु हरिवंश की चरण-रज शीश पर चढ़ाऊँगा । नृसिंहाश्रय जी, आपकी कृपा से मेरा मोह जाता रहा । मैं

आपको कृतज्ञता पूर्वक प्रणाम करता हूँ।

नृसिंहाश्रय : छोड़ो भी इन बातों को ज्ञानू संत ! तुम बहुत श्रमित प्रतीत हो रहे हो। चलो चलें मेरी कुटी में थोड़ा विश्राम करके फिर जहाँ चाहो चले जाना।

ज्ञानू : जैसी आपकी इच्छा, चलिये।

[दोनों एक ओर से जाते हैं, कुछ समय उपरान्त दूसरी ओर से बालक हरिवंश गेंद खेलते आते हैं। बालकों के टोल में पाँच से नौ वर्ष तक के बालक हैं। थोड़ी देर गेंद होती है, फिर अनायास ही हरिवंश जी के हाथ से—जो लगभग ५-६ वर्ष की वय के हैं—गेंद कूप में गिर जाती है। यह देखकर वह बालक जिसकी गेंद है, रोकर हरिवंश जी को पकड़ लेता है।]

बालक : तैंने मेरी गेंद जान कर कुएँ में डाल दी है, अब ला इसे निकाल कर।

हरिवंश : यह मेरे वश की बात नहीं है भैया। मैं तुझे दूसरी गेंद दे दूँगा, चल मेरे साथ। भला तेरी गेंद जान कर मैं क्यों कुएँ में डालता ?

बालक : दूसरी नहीं, मैं यही गेंद लूंगा, यही लूंगा, यहीं लूंगा, और अभी लूंगा। मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ।

हरिवंश : मैं तुझे २–४–१० जितनी कहेगा गेंद दे दूंगा। तू अभी चल, मैं अभी, दूसरी गेंद देता हूँ। बिलकुल नई।

बालक : पर मुझे नई नहीं चाहिये। यही चाहिये मेरी पुरानी गेंद।

हरिवंश : (**बिगड़कर**) तो अब मैं इसे नहीं दे सकता।

बालक : मैं भी देखता हूँ, कैसा है तू न देने वाला।

[दोनों में मारपीट होती है, दोनों रोने लगते हैं, यह देखकर कुछ बच्चे बीच-बिचाव करते हैं, कुछ दौड़ कर हरिवंश जी के पिता व्यास जी को बुलाने चले जाते हैं। थोड़ी देर उपरान्त व्यास जी तथा और कुछ व्यक्ति इधर-उधर से आकर एकत्रित हो जाते हैं।]

व्यास जी : (**आते हुए**) बेटा हरिवंश, क्या बात है? (**सब से**) बेटा, तुम सब क्यों लड़ा करते हो आपस में ?

हरिवंश : (**रोते हुए**) दादा जी ! इसकी गेंद मेरे हाथ से कुएँ में गिर गई है, इसी बात पर इसने मुझे मारा है। अब आप इस गेंद को कुएँ में से निकलवा दीजिये।

व्यासजी : (**गेंद वाले बालक से**) बेटा, मैं तुझे और गेंद देता हूँ, चल मेरे साथ।

बालक : (**रोते हुए**) नहीं, मैं तो अपनी यही गेंद लूंगा।

हरिवंश : (**रोते हुए**) दूसरी नहीं दादा जी, अब तो यही गेंद इसे निकलवादो। इसने इसी के लिए मुझे मारा है। जब तक यह गेंद इसे न दे दी जायेगी मैं जल भी नहीं पियूंगा।

व्यासजी : अजब हठी हो तुम सब (**कुएँ पर जा कर गेंद**

देखने के लिए झाँकते हैं) जल पर तैर तो रही है, गेंद।

एक व्यक्ति : तो लाइये मैं उसे निकाल देता हूँ। रस्सा ले आ जेठा बेटा !

[रस्सा लाने के लिए एक लड़के को इंगित करता है, पहले काँटा डाला जाता है, पर गेंद नहीं निकलती तब एक व्यक्ति कुएँ में उतरता है, कुएँ में उसके उतरते ही गेंद अदृश्य हो जाती है।]

एक व्यक्ति : (कुएँ में से) व्यास जी महाराज ! कुएँ में उतरते ही गेंद तो न जाने कहाँ विलीन हो गई। उसका अब यहाँ कोई पता नहीं है।

व्यास जी : (झाँककर) आश्चर्य है कि जल पर तैरती-तैरती गेंद तुम्हारे कुएँ में उतरते ही कहीं बिला गई। यदि नहीं मिलती तो फिर बाहर निकल आओ भैया, कुएँ में खड़े रहने से क्या बनेगा ?

[कुछ देर बाद वह व्यक्ति कुएँ से निकल आता है, उसके निकलते ही गेंद फिर जल पर तैरने लगती है, इधर गेंद न निकलने के कारण दोनों बालक पुनः रोने लगते हैं।]

दूसरा व्यक्ति : (कुएँ में झाँककर) गेंद तो बराबर तैर रही है भाई ! पर तुझ पर निकालना ही नहीं आता। इधर ये बच्चे रो-रोकर प्राण छोड़े दे रहे हैं। लाओ, मैं निकालता हूँ अब इसे। (वस्त्र उतार कर कुएँ में उतरता है)

व्यास जी : (कुछ क्षणों बाद कुएँ में झाँक कर) कहो, क्या गेंद निकली भाई ?

दूसरा व्यक्ति : क्या बताऊँ, यह तो कोई चमत्कारी-सा कुआँ है, व्यास जी महाराज ! नीचे-ऊपर सब जगह खोजता-खोजता थक गया किन्तु गेंद फिर विलीन हो गयी है । अब उसका यहाँ कोई पता नहीं ।

व्यास जी : आश्चर्य है । तब तुम निकल आओ भाई, इस गेंद की खोज अब व्यर्थ है ।

[आदमी बाहर निकलता है, रस्सा खींचा जाता है, उधर बालक हरिवंश सबकी दृष्टि से बचकर कुएँ पर चढ़कर झाँकते हैं ।]

हरिवंश : (कुएँ में देखते हुए) गेंद तो कुएँ में खूब चमक रही है, दादा जी ।

व्यास जी : (घबड़ाकर) अरे तू कहाँ पहुँच गया वहाँ, चल इधर ।

हरिवंश : नहीं दादा जी, अब मैं ही इस गेंद को निकालूँगा । **(धड़ाम से कुएँ में कूद जाते हैं । कुहराम मच जाता है, दूसरे ही क्षण कुएँ में से भारी ध्वनि होती है सब आश्चर्य से देखते हैं । कुएँ का जल ऊपर चढ़ता है, और उसकी सतह पर बालक हरिवंश पद्मासन से बैठे ऊपर आते हैं । गोद में भगवान् रंगीलाल जी का श्री विग्रह है । पुत्र को देख कर व्यास जी एक दम हरिवंश को गोद में उठा लेते हैं, पानी पुनः नीचे चला जाता है ।]**

व्यास जी : बेटा हरिवंश, आज तैंने ये क्या लीला रची है ? हमारी समझ में कुछ नहीं आता ।

हरिवंश : इसमें लीला की कोई बात नहीं दादा जी, मैं कुएँ में झाँका, तो न जाने किसने स्वयं मुझे कुएँ के अन्दर खींच लिया । कुएँ में जाते ही भगवान् रंगीलाल मेरी गोद में आ गये । मैं अब इनकी पूजा किया करूँगा दादा जी, इन्हीं की कृपा से कुआँ मुझे नहीं डुबा सका, वरन् उसने स्वयं अपने जल को बढ़ाकर मुझे आपके पास तक पहुँचाया है ।

भीड़ का एक व्यक्ति : ये, सिद्ध पुरुष हैं । महाराज ! इन्हें कोरा बालक न समझो ।

दूसरा व्यक्ति : ये पूर्व जन्म का कोई बड़ा सिद्ध है ।

तीसरा व्यक्ति : सिद्ध नहीं, ये साक्षात् भगवान् हैं ।

व्यास जी : समझ में नहीं आता भगवान् की यह क्या लीला है ? अच्छा भाइयो तो चलो । आज ही भगवान् रंगीलाल जी की प्रतिष्ठा भी हो जाय, आज का दिन बहुत शुभ दिन है ।

भीड़ के व्यक्ति : इससे सुन्दर और क्या बात होगी महाराज, चलिये ।

[सब भगवान् रंगीलाल व बालक हरिवंश की जय बोलते हुए जाते हैं ।]

होनहार बिरवान के होत चीकने पात

शिक्षा-दीक्षा—

[**व्यास जी का भवन। एक कक्ष में हरिवंश सोये हुए हैं, व्यास जी उठ कर पूजा-पाठ के लिये जाते हैं। ब्रह्म-मुहूर्त का समय है। हरिवंश जी करवट लेते हैं, उनकी वय लगभग ८ वर्ष है। सोते में बार-बार 'हे राधे', 'श्री राधे' पुकार उठते हैं। तभी अनायास एक दम प्रकाश की चमक से रंगमंच का एक कोना दमक उठता है और उसमें राधिका प्रगट होती हैं।**]

राधा : वत्स हरिवंश।

हरिवंश : (**स्वप्नावस्था में**) जगत् जननी !

राधा : मैं तोते भौत प्रसन्न हूँ वत्स ! तू अपने स्वरूप कू पहिचान और संसार में तू जा उद्देश्य ते आयौ है बाय पूरौ करि।

हरिवंश : माँ, मैं कौन हूँ, और क्यों यहाँ आया हूँ, मुझे कुछ स्मरण नहीं है।

राधा : वत्स, तू प्यारे श्याम सुन्दर की वंसी कौ साक्षात् माधुर्य है। वृन्दावन के अप्रगट तत्त्व, रस-भक्ति के गुप्त रहस्य कू सद्पात्रन तक पहुँचायबे के ताईं ही तू यहाँ अवतरित भयौ है। लै आज मोते तू जा रस-भक्ति कौ तत्व हृदयंगम कर। (**राधा**

धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं। हरिवंश जी के पास आकर कान में मंत्र देती हैं। हरिवंश जी स्वप्न में ही गद्गद् भाव से हाथ जोड़ते हैं।)

हरिवंश : भेंता राधिके ! आज तुमने मुझे स्वयं पधार कर रस-भक्ति की दीक्षा द्वारा मेरे हृदय के पटल खोल दिये। आज मुझे अपना स्वरूप, प्रेम का हित रूप स्मरण हुआ। आपकी कृपा-कोर से मैं धन्य हो गया हूँ, माता ! आप मेरी गुरु हैं, मेरा प्रणाम लीजिये।

राधा : बेटा, या गुप्त रस कू हृदय में धारण करकैं तू यथा समय अधिकारी जनन कू दीजो। मैं तोय यथा समैं वृन्दावन बुलाऊँगी, पर अभी तू यहीं रहि और यहीं रहिकै रस के जा रहस्य में भीतर पैठ। मैं अब जाऊँ हूँ। **(अदृश्य हो जाती हैं)**

हरिवंश : **(हड़बड़ाकर उठ बैठते हैं)** माता, राधिके ! हे गुणाधिके ! तुम मुझे छोड़ कर कहाँ चली गई। बिना तुम्हारे मैं किस का होकर रहूँगा, माता !

व्यास जी : **(स्नान आदि के उपरान्त भजन की मुद्रा में प्रवेश करते हुए)** क्या बात है हरिवंश, कौन तुझे छोड़ कर चली गई, क्या हुआ ?

हरिवंश : **(बात बदल कर)** कुछ नहीं दादा जी, कुछ अनोखा सा एक स्वप्न देखा था, उसी के सम्बन्ध में कुछ सोच रहा था।

व्यास जी : **(हँसकर)** कोई बात नहीं बेटा, स्वप्नों से डरा

नहीं करते। जाओ स्नान करो और भगवान् रंगीलाल जी की सेवा करो। पाँच अभी के बज चुके हैं।

हरिवंश : जो आज्ञा! (**बिस्तर उठाते हैं, फिर बाहर चले जाते हैं। व्यास जी आसन बिछाकर भजन करने लगते हैं। धीरे-धीरे सूर्योदय होता है, व्यास जी भजन समाप्त करके उठते हैं, वैसे ही कोई द्वार खटकाता है। "व्यास जी महाराज हैं क्या?" की आवाज।**]

व्यास जी : कौन है भाई?

पूरण पंडित : अजी मैं हूँ पूरण पंडित।

व्यास जी : ओ हो, (**आगे बढ़ कर द्वार खोलते हैं**) आओ मित्र, आज तो बहुत दिनों में दर्शन दिये।

[**दोनों आकर आसनों पर विराजते हैं, कुछ दूर पर थोड़ी देर के उपरान्त ही हरिवंश जी आकर दोनों को प्रणाम करके अलग बैठ जाते हैं, और ज्योतिष की कोई पुस्तक पलटने लगते हैं।**]

पूरण पंडित : (**हरिवंश को देखकर**) लगता है कि बालक हरिवंश को आपने अभी से ज्योतिष के चक्र और कुण्डलियों में उलझा दिया है।

व्यास जी : क्या बताऊँ पूरण पंडित। बड़ी इच्छा है कि यह लड़का भारत का प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् बन कर इस वंश का यश बढ़ावे, परन्तु इसका मन तो सिवाय राधे नाम की रटन, ठाकुर पूजा,

या फिर खेल-कूद के अतिरिक्त किसी काम में रमता ही नहीं ।

पूरण पंडित : आप भी कैसी बातें किया करते हैं व्यास जी, भला कहाँ ये कोमल बालक और कहाँ ज्योतिष ? क्यों बेचारे का कचूमर निकालते हो ? अरे, इस नीरस गणित से इसका पीछा छुड़ाओ । ये तो सरस हृदय बालक है व्यास जी, इसे नव-रस, छंद, अलंकार और पिंगल पढ़ाओ । ये बालक साहित्य का विद्वान् बनेगा ज्योतिषी नहीं, समझे ।

व्यास जी : ठीक है पंडित, यदि तुम्हारी छाया इस पर पड़ गई तो निश्चय ही ऐसा हो कर रहेगा । पर तनिक मुझ पर रहम करना । पूरन पण्डित ! अपनी तरह हरिवंश को भी साहित्य का चसका लगाकर क्या इसको भी एक से दूसरे राज-द्वार पर जीवन भर झूँठी प्रशस्तियाँ लिखवा-लिखवाकर दर-दर भटकवाओगे ? क्यों मेरा घर बिगाड़ते हो, भाई ।

पूरण पंडित : द्वार-द्वार जाकर जगत का उद्धार करना तो हम ब्राह्मणों का धर्म है, व्यास जी । यह दूसरी बात है कि आप हरिवंश को विद्वान् रसज्ञों की सभा में न बैठा कर हाथ देखने वालों में बैठायें ।

हरिवंश : **(एकाएक पुस्तक से मस्तक उठाकर)** कौन किसको कहाँ बैठाता है चाचाजी ? बैठाने वाली

तो जगज्जननी राधिका रानी हैं, वे जहाँ चाहें-
गी मुझे वहीं बैठना होगा। उनके बताये विधान
के आगे जन्म-पत्री भी कुछ काम नहीं देती।
सुनिये—

द्वादश चन्द्र कृतस्थल मंगल, बुद्ध विरुद्ध सुरगुरु बंक।
यद्दि दशंम् भवन्न भृगुसुत, मन्द सुकेतु जनम्म के अंक॥
अष्टम राहु, चतुर्थ दिवामणि, तौ 'हरिवंश' करत्त न शंक।
जो पैं कृष्ण चरण मन अर्पित, तौ करि हैं कहा नव-ग्रह रंक॥

और सुनिये—

भानु दशंम् जनम्म निशापति, मंगल बुद्ध शिवस्थल लीके।
जो गुरु होंहि धरम्म भवन्न के, तौ भृगुनन्द सुमंद नवी के॥
तीसरौ केतु समेत विधुग्रस, तौ 'हरिवंश' मन क्रम फीके।
गोविंद छाँड़ि भ्रमंत दशौ दिशि, तौ करि हैं का नवग्रह नीके॥

[बालक हरिवंश चुप हो जाते हैं, व्यास जी व पूरण पंडित चकित भाव से हरिवंश जी के मुँह को देखते हैं।]

व्यास जी : बेटा, अनुकूल और प्रतिकूल ग्रहों का फल तुम्हें किसने सिखाया? तू तो जन्म-जात ज्योतिषी है, बेटा।

पूरण : फिर वही ज्योतिष। क्या ज्योतिष को लिये फिरते हो व्यास जी। यह बालक नहीं वरन् साहित्य का प्रकाण्ड पंडित और महाकवि है। जब इस छोटी अवस्था में ही ये ऐसी अनुप्रास-मयी सरस रचना इस शीघ्रता से कर सकता है तो बड़े होने पर न जाने क्या करेगा?

हरिवंश : मैं तो आपका अबोध बालक हूँ चाचा जी, आपके और दादा जी के सत्संग में ज्योतिष और साहित्य की चर्चा सुनते-सुनते ही कुछ सीख गया होऊँगा ।

पूरण : बेटा, तू हमसे क्या सीखेगा, तुझे जन्म से ही विद्या सिद्ध है । भैया, हम तो नाम के ही पूरण पंडित रहे । पूर्ण तो तू ही है, हरिवंश । व्यास जी, आपको धन्य है जो आपके गृह में ऐसा पुत्र जन्मा । (**हरिवंश जी से**) बेटा, दिन-दिन तेरी बुद्धि प्रखर हो यही मेरा आशीर्वाद है । अच्छा व्यास जी, तो अब आज्ञा दीजिये, चलता हूँ । (**व्यास जी खड़े होकर पूरण पंडितको विदा करते हैं । पूरण पंडित का जाते हुए स्वगत**) बालक हरिवंश निश्चय ही अवतारी महापुरुष हैं, चाहता हूँ कि अभी इनके चरण पकड़ लूँ, परन्तु नहीं, अभी वह समय नहीं आया । इसके लिये मुझे तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक ये वृन्दावन नहीं पधारते । अच्छी बात है, प्रभो ! मैं आज से दुनियाँ की दृष्टि से कहीं दूर बैठ कर आपके वृन्दावन-आगमन की चुपचाप प्रतीक्षा करूँगा, जाता हूँ ।

[**भाव भरी दृष्टि से हरिवंश जी को देखता हुआ एक ओर पूरण पंडित जाता है, दूसरी ओर से हरिवंश जी की माता हाथ में कलेवा लिये आती हैं । बालक हरिवंश दौड़ कर उनसे**

लिपट जाते हैं। माता उन्हें पुचकार कर गोद में ले लेती हैं। बालक हरिवंश माँ की गोद में कलेवा करने लगते हैं।]

व्यास जी : प्रिये तारावती !

तारावती : नाथ !

व्यास जी : तारावती, मुझे तो अब राज-दरबार जाना है, पता नहीं वहाँ कितना समय लग जाय, पीछे से तनिक सावधान रहना, तेरा ये हरिवंश बड़ा ही विलक्षण और खिलाड़ी है। सावधानी से इसकी देख-रेख रखना।

तारावती : आपकी आज्ञा शिरोधार्य है नाथ, परन्तु अब हरिवंश बड़ा होने को आया। आखिर ब्राह्मण के घर जन्म लेकर ये कब तक यों गलियों या घर में कुलाँच मारता रहेगा, इसकी शिक्षा-दीक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध अब हो जाना चाहिए।

व्यास जी : इसे क्या पढ़ना है तारावती, ये तो सब पढ़ा-पढ़ाया है। आज पूरण पंडित के सामने इसने जो छन्द सुनाये हैं, वे क्या कोई बिना पढ़ा या बिना गुना व्यक्ति कह सकता था ? यह हमारा अहोभाग्य है प्रिये, जो यह विभूति हमारे घर में जन्मी है। इसे पाकर तुम्हारी कोख अमर हो गई है।

तारावती : आज आप भी औरों की तरह बच्चों की सी बातें करने लगे, स्वामी। लगता है अब आप

पर भी इन झूठे चाटुकारों का असर पड़ गया है जो इसकी कोरी प्रशंसा कर कर के इसे आसमान पर चढ़ा रहे हैं। चार अक्षर ज्योतिष के जानने से या तुक जोड़ने से ये महापुरुष नहीं बन सकता। महान् बनने के लिए इसे विद्या के गहन सागर में गोते लगाने होंगे, परिश्रम करना होगा। आप किस भ्रम में हो नाथ? इसकी समुचित शिक्षा-दीक्षा का आपके जाने से पूर्व ही उचित प्रबन्ध होना मेरे विचार से अत्यावश्यक है। बालक हाथ से निकल गया तो जीवन भर पछताना पड़ेगा।

व्यास जी : अच्छी बात है, यदि तुम्हारा ऐसा ही विचार है, तो मैं आज ही इसे आचार्य हरिदास जी को सौपे देता हूँ, वे वयोवृद्ध, विद्वान् और अनुभवी हैं। मैं स्वयं बचपन में उनके यहाँ विद्याध्ययन कर चुका हूँ।

तारावती : जैसी आपकी इच्छा। (**हरिवंश जी को गोद में उठा कर**) देखती हूँ मेरा बेटा पढ़-लिखकर कैसा विद्वान् बनेगा। बड़े-बड़े पंडितों को शास्त्रार्थ में जीतेगा और दुनियाँ में हमारा नाम ऊँचा करेगा। करेगा न बेटा ?

[हरिवंशजी गर्दन हिला कर मुस्कराते हैं। माता पुत्र का मुख चूमती है। व्यास जी गद्गद् भाव से वह दृश्य देखते हैं। यवनिका गिरती है।]

दूसरा दृश्य

[आचार्य हरिदास जी की पाठशाला में विद्यार्थी पढ़ रहे हैं। आचार्य हरिदास सामने एक चौकी पर बैठे हैं। बुढ़ापे के कारण यद्यपि शरीर कृश है। परन्तु मुख-मंडल पर विद्या का तेज पूर्णतः भास्मान है। विद्यार्थी उन्हें संस्कृत सुभाषित सुना रहे हैं। आचार्य विद्यार्थियों की भूलों को समझा रहे हैं।]

आचार्य : **(चारों ओर देखकर)** क्या हरिवंश आज भी पाठशाला नहीं आया।

रघु : वह बड़े बाप का बेटा जो है आचार्य जी, उसे पढ़ने की क्या चिन्ता है। आप उसके लिये क्यों पूछा करते हैं ?

आचार्य : तुम नहीं जानते रघु, मैं हरिवंश के पिता व्यास जी का भी गुरु रहा हूँ। उन्होंने बड़े विश्वास के साथ इसे मेरे हाथों सौंपा है, परन्तु इस बालक की क्या बुद्धि है, समझ में नहीं आता। ब्राह्मण हो कर विद्या से यह उदासीनता ? उसे या तो खेलना या फिर एकान्त में वैरागियों की भाँति बैठकर राधे-राधे रटना, ये ही दो काम रह गये हैं।

रघु : तो आपको क्या चिन्ता है आचार्य ! राधिका ही उसे विद्या पढ़ा देगी।

आचार्य : नहीं बेटा, ऐसे काम नहीं चलेगा, मैं आज इस

मामले का अन्तिम निर्णय करके छोड़ूँगा। तुम जाओ और हरिवंश जहाँ भी कहीं मिले उसे साथ लेकर आओ।

रघु : जो आज्ञा!

[रघु जाता है, आचार्य फिर पाठशाला के अध्यापन-कार्य में संलग्न हो जाते हैं। थोड़ी देर में रघु, हाथ में गेंद लिये हुए हरिवंश जी के साथ आता है।]

रघु : महाराज! ये हरिवंश आ गया है।

[आचार्य हरिवंश को घूरते हैं। हरिवंश जी प्रणाम करते हैं। आचार्य इंगित से ही हाथ हिला कर आशीर्वाद देते हैं।]

आचार्य : हरिवंश, तुम्हें मालूम है कि तुम एक कुलीन ब्राह्मण-कुल में जन्मे हो?

हरिवंश : जी महाराज।

आचार्य : तुम ये भी जानते होगे कि तुम अपनी माता-पिता की इकलौती सन्तान हो, और उनकी समस्त आशा और मनोकामना तुम पर ही निर्भर हैं।

हरिवंश : जानता हूँ, आचार्य।

आचार्य : तुम्हें ये भी पता है कि तुम्हारे पिता व्यास जी मेरे विश्वास पर ही तुम्हें यहाँ विद्याध्ययन को छोड़ गये हैं।

हरिवंश : पता है, गुरुदेव।

आचार्य : **(कुछ क्रोध से)** ये सब तुम्हें पता है, फिर भी पाठशाला तुम्हें काटने को दौड़ती है, विद्या-

ध्ययन के नाम मानों तुम्हें साँप सूँघ जाता है, कबड्डी खेलना या विरक्तों की तरह 'राधे-राधे' रटना ये दो ही काम तुम्हें करने को रह गये हैं। तुम अपने साथ मुझे भी क्यों कलंकित कर रहे हो, हरिवंश ?

हरिवंश : **(हँसकर)** आचार्य, क्या बताऊँ, बहुत चाहता था कि आपकी आज्ञा के अनुसार पढ़ूँ, आपके चरणों की छाया में बैठ कर कुछ सीखूँ। बार-बार हृदय को इस ओर प्रेरित करता हूँ आचार्य, परन्तु आपकी ये विद्या मेरे गले ही नहीं उतर पाती। मुझे क्षमा कीजिये गुरु जी, मैं इस विद्या को नहीं पढ़ना चाहता।

आचार्य : **(कुछ और उत्तेजना से)** इस विद्या को नहीं पढ़ना चाहता, तो फिर किस विद्या को पढ़ना चाहता है ?

हरिवंश : **यद्जायः सकृदेव गोकुलपते, राकर्षकस्तत्क्षणा।**
यत्रप्रेमवतां, समस्त पुरुषार्थेषु स्फुरे तुच्छता॥
कालिंदीतट कुंजमंदिररता, योगींद्रवत् यत पद्।
ज्योतिर्ध्यानपरा सदाजपतियाम् प्रेमाश्रु पूर्णः हरिः॥

आचार्य, मेरी दृष्टि में यही, हित प्रेम की ही एक विद्या संसार में पठनीय है। मेरे लिये यही विद्या सर्वोपरि है। मैं और कुछ नहीं पढ़ना चाहता।

[आचार्य गद्‌गद् भाव से हरिवंश को छाती से लगाते हैं, सब विद्यार्थी हतप्रभ से देखने लगते हैं।]

हरिदास : बेटा हरिवंश ! आज तक मैं कितने भ्रम में रहा। निस्सन्देह तुझे कोई विद्या पढ़ने की आवश्यकता नहीं है बेटा। तैंने जो विद्या पढ़ी है वही सर्वोपरि विद्या है। आज मैंने जान लिया कि मैं तेरा आचार्य नहीं तू ही मेरा आचार्य है। तेरी समस्त शिक्षा पूर्ण हो गयी बेटा। तुझे पढ़ाने की चेष्टा भी मेरी आत्म-प्रवंचना ही थी। तू जा। तेरा यश राधा-कृष्ण के स्मरणीय भक्तों में चिरस्थायी होगा।

हरिवंश : आप ये क्या कह रहे हैं पूज्यपाद ! धूल का स्थान चरणों में ही होता है, मस्तक पर नहीं। मैं सदैव ही आपका अनुगत हूँ।

[चरण छूना चाहते हैं, परन्तु आचार्य बीच में ही रोक-कर अंक में भर लेते हैं, दृश्य समाप्त।]

: ४ :

बदरिया की वियोगिनी

हिन्दी के वाल्मीकि कवि चूड़ामणि महाकवि तुलसी दास जी की धर्मपत्नी रत्नावली यद्यपि केवल एक सफल कवयित्री के रूप में ही नहीं वरन् एक ऐसी महान् दानशीला वीरांगना के रूप में भी अभिवंदनीय हैं, जिन्होंने अपने सोने से गृहस्थ्य-सुख को मिट्टी बनाकर भी साहित्य को तुलसी जैसा महाकवि और भगवान् राम को उनका एक ऐसा अनन्य दास प्रदान कर दिया जो अपने अंतिम श्वास तक भी उनकी ही विरुदावली गाता गया; परन्तु खेद है कि न तो आज तक हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहासकार ने रत्नावली जी के इस महान् उपकार भरे त्याग के प्रति नमन किया है और न सम्भवतः भगवान् राम ने ही कभी उस परिताप प्रपीड़िता वियोगिनी नारी की कोई सुधि ली थी। वे सदा तुलसी पर ही अपने वरद हस्त-कमल की छत्र छाया करने में व्यस्त बने रहे। कौन जानता है कि यदि रत्नावली जी की प्रेरणा तुलसी को रामोन्मुख न करती तो भगवान् राम और उनके महा भक्त तुलसी आज किस रूप में होते?

वास्तव में रत्नावली जी का जीवन एक भारतीय नारी के तप और त्याग की करुण गाथा है। उनका जन्म संवत् १५७७ में एटा जिले के बदरिया ग्राम में हुआ था, जो प्रसिद्ध तीर्थ सोरों के ठीक सामने गंगा के दूसरी पार स्थित था। ये दीनबंधु पाठक की कन्या थीं और इनकी माता का नाम दयावती था। रत्नावली जी के तीन बड़े भाई भी थे जिनके नाम क्रमशः शिव, शंकर और शंभु थे।[1]

---

१. विस्तृत जानकारी के लिये देखिये 'ब्रज-भारती', वर्ष १०, अंक १ में प्रकाशित लेखक का लेख 'रत्नावली' या पं० रामदत्त भारद्वाज-कृत 'तुलसी का घरबार'।

बारह वर्ष की अवस्था में महाकवि तुलसी का रत्नावली जी से विवाह और १६ वर्ष की अवस्था में द्विरागमन संस्कार हुआ था। इस प्रकार केवल १० वर्ष ही इन्होंने दाम्पत्य-जीवन का सुख भोगा, किन्तु दुर्भाग्यवश इस बीच भी एक दुर्घटना घट ही गई कि रत्नावली जी को अपने एक मात्र पुत्र तारापति की मृत्यु का कठोर आघात सहना पड़ा।

संवत् १६०४ में, जब रत्नावली जी ने सत्ताईसवें वर्ष में प्रवेश ही किया था, गोस्वामी जी इन्हें त्याग गये। कहा जाता है कि गोस्वामी जी रत्नावली जी के निम्न दो दोहों को सुनकर विरक्त हुए थे—

"लाज न आवत आपकों, दौरे आयेहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम कों, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि चर्म मय देह मम, तासों ऐसी प्रीति।
तैसी जो श्री राम महँ, होत न तौ भव-भीति॥"

परन्तु यह दोहे इतने कठोर हैं जिनकी आशा रत्नावली जैसी सरल और सरस कवयित्री से नहीं की जानी चाहिए। वैसे भी ये दोहे रत्नावली जी के उपलब्ध २०१ दोहों के प्राचीन हस्त-लिखित संग्रह में उपलब्ध नहीं होते, अतः इनकी प्रमाणिकता को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

परन्तु ये दोहे प्रमाणिक हों या न हों, रत्नावली जी की प्रेरणा पर ही तुलसी ने गृह-त्याग किया, यह निर्विवाद है। रत्नावली जी का यह बड़ा दुर्भाग्य था कि पति-वियोग के साथ ही साथ उसी वर्ष उन्हें अपनी माता दयावती की मृत्यु का दारुण दुःख भी सहना पड़ा। इस प्रकार रत्नावली घर में बैठी-बैठी ही एक अनाथा प्रेम-वियोगिनी बन गईं।

कहा जाता है कि अपने छोटे चचेरे भाई नंददास जी[1] (अष्टछाप के प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि) के द्वारा गोस्वामी जी ने रत्नावली जी को कुछ

---

१. देखिये 'दो सौ बावन वैष्णवन् की वार्त्ता' में नन्ददास जी की वार्त्ता।

संदेश भी भेजा था, परन्तु उससे इन्हें कोई विशेष सान्त्वना नहीं मिली ।

एक अनुश्रुति है कि रत्नावली जी ने एक बार तुलसीदास जी को यह दोहा लिख भेजा था—

"कटि की खीनी कनक सी, रहत सखिन संग सोय ।
मोहि फटे को डर नहीं, अनत कटे डर होय ।।"

कहा जाता है कि इस दोहे के उत्तर में गोस्वामी जी ने यह दोहा लिखकर रत्नावली जी के पास भिजवाया था—

"कटे एक रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केस ।
हम तौ चाखा प्रेम-रस, पत्नी के उपदेस ।।"[१]

ऐसा भी कहा जाता है कि एक बार चित्रकूट से लौटते समय तुलसी दास जी ने वृद्धावस्था में एक रात्रि को रत्नावली जी के यहाँ डेरा किया था । रत्नावली जी पहले तो अपने वृद्ध पति को अपनी जरा-जर्जरित क्षीण ज्योति आँखों से पहचान ही नहीं सकीं, परन्तु अन्त में चलते समय किसी प्रकार भेद खुल गया । कहा जाता है कि उस समय रत्नावली जी ने गोस्वामी जी से उन्हें अपने साथ ही रखने की प्रार्थना की, परन्तु गोस्वामी जी ने यह उचित न समझा, इस कारण पतिपरायणा सती रत्नावली ने हृदय पर पत्थर रखकर गोस्वामी जी की उस आज्ञा को भी शिरोधार्य कर लिया । गोस्वामी जी चले गये और उनके वियोग में रत्नावली जी यावत् जीवन तड़पती रहीं । यही पति-पत्नी की इस लोक में अंतिम भेंट थी ।

रत्नावली जी ने यद्यपि बहुत कम साहित्य लिखा है, परन्तु जो लिखा है उसकी स्वाभाविकता, सहृदयता, तल्लीनता, सरलता और सरसता अनूठी है । इनका अधिकांश साहित्य दोहों के रूप में है जो संख्या में केवल २०१ हैं । कुछ पद भी इन्होंने लिखे हैं । इनके अधिकांश दोहों

---

१. देखिये 'कविता-कौमुदी', पृष्ठ २४१ ।

में विरह की तीव्रता और कुछ में संयोग के सुख की झाँकी, बड़ी पूर्णता से व्यक्त हुई है। व्यक्तिगत अनुभूति से अनुप्राणित उक्त दोहों के अतिरिक्त रत्नावली जी एक सूक्तिकार कवयित्री के रूप में भी बड़े महत्त्व का स्थान रखती हैं। जीवन के अनुभवों को दोहों के बंद से बाँधकर इन्होंने एक सुन्दर पुष्प-हार माँ भारती के कंठ में सुशोभित किया है।

कवयित्री रत्नावली के काव्य पर आधारित एक जीवन झाँकी—

पात्र-परिचय

रत्नावली : गोस्वामी तुलसीदास जी की धर्म-पत्नी।

नंददास : गोस्वामी जी के चचेरे भाई, अष्टछाप के प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि।

[रत्नावली के पितृ-गेह बदरिया गाँव का एक एकान्त बाग है, जहाँ लताएँ वृक्षों से सटी खड़ी दीख रही हैं। वहीं पर वियोगिनी के वेष में रत्नावली जी प्रवेश करती हैं। बाल खुले और बिखरे हुए हैं, माथे पर सुहाग-चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते। उन्मादिनी के भाँति वे इधर-उधर घूमती हैं।]

रत्नावली—दीनबन्धु कर घर पली, दीनबन्धु कर छाँह।
तौऊ भई हौं दीन अति, पति त्यागी मो बाँह॥

(हलका अट्टहास)

ये दुनियाँ मोय दीनबन्धु की पुत्री कहि कै पुकारै। बालापन में पिताजी मोय कैसे हथेरिन पै आँखिन की पूतरी करि कै राखैं हे, हाय तब कहा बिन्ने सुपने में ऊ सोची होयगी कै एक दिन मेरी आँख मिचे पै मेरी रत्नावली अपने पति ते परित्यक्त है कै यों डार ते टूटे पात की नांई या संसार के झकझोरेन में इकली थड़ेपे खात फिरैगी। पर जामें दोस ही कौन कौ है? मैंने तौ जान बूझ कै स्वयं ही अपने घर में आग दोनी ही। मैं ही तौ स्वयं अपने गृहस्थ के सुख में बिष की बेल बनिकै फरी ही। हाय, हाय, मोकूँ धिक्कार ऐ। या बदरिया गाँम में जनम कै मैंने या पवित्र भूमि कू हू लजाय दीनो। कैसी अभागी हूँ मैं—

जनमि बदरिया कुल भई, हौं पिय कंटक-रूप।
बिधत दुषित है चलि गए, रत्नावलि-उर-भूप ॥
हाय बदरिका बन भई, हौं बामा विष बेलि।
रत्नाबलि हौं नाम की, रसहिं दियौ विष मेलि ॥

मैंने स्वयं अपने पाँमन में आप कुठारी दै लयी। मै ऐसी मूर्खा निकसी कै जा डार पै बैठी ही, बाई पै कुठार चलाय दियौ। (**बादल गरजते हैं**) आह मेरे प्राणवल्लभ ! वा अँधियारी निबिड़ भरी ऐसी ही वर्षा की एक रात में तुम मेरे प्रेम में अंधे है कै अपनी जान तक जोखिम में डार कै गंगा में कूद पड़े हे, और अनेक विघ्नन ते जूझते भये मोते मिलबे कू पधारे, और एक मैं पत्थर से हिये की निकसी जो आपके स्वागत में दो मीठे वचन हू न बोल सकी। हाय वा दिना ये जीभ गिर ही चौं न गई, या में कीरा ही चौं न पड़ गये। जो मैं ये जान जाती कै मेरे सूधे सहज बचनन तेऊ स्वामी के हिये में पूर्व जन्मन कौ सोयौ वैराग्य जगि जायगौ तौ मैं बिनते कछू चौं कहती।

हाय सहज ही हौं कही, लह्यौ बोध हृदयेस।
हौं रत्नावलि जँच गई, पिय हिय काँच बिसेस ॥
सुभहु बचन अप्रकृत गरल, रतन प्रकृत के साथ।
जो मो कहँ पति प्रेम संग, ईस प्रेम की गाथ ॥

मैंने कहा सोची और कहा है गयी। हाय मोय कल्ल की सी बात याद ऐ, जब मैं बारह बर्स की ही तो स्वामी कैसे बरना बने मोय ब्याहिबे पधारे, फिर सोलह की अवस्था में गौनों करिकै लाये और अपने हृदय कौ सबरौ सनेह मो पै बार दियौ,

पर मैं अभागिनी वा रस कौ महत्त्व ही कब समझि पायी। मैंने वाय ठुकराय दियौ। हाय, मेरी सत्ताईसवीं बर्स तू आई ही चौं। ये १६०४ कौ बजमारौ दुखदायी संवत ई मेरे सब अनर्थन की जड़ भयौ। या दुखदायी साल ने मेरे प्राणपति और माता दोनोंन कौ वियोग एक ही संग कराय दियौ। फिर हू, माता और पति दौनोंन कू गमाय कै ऊ मैं अभागिनी आज हू जी रही ऊँ। या जीवन के दुखदायी भार कू ढ़ोय रही ऊँ—

बैस बारहीं कर गह्यौ, सोरह गबन कराय।
सत्ताइस लागत करी, नाथ रतन असहाय॥
सागर-षरस-ससी रतन, संवत भौ दुखदाय।
पिय-वियोग जननी-मरन, करन न भूलौ जाय॥

एक दिना वो हौ, जब मैंने अपने नवीन जीवन में प्रवेस कर्यौ। जा दिना प्राणनाथ ने मेरी बहियाँ गह्यीं मैं मन ही मन कैसी फूल गयी ही। मैंने अपने भावी जीवन की कल्पनान में कैसौ सोने कौ संसार बसायौ हो, और एक दिना बु आयगौ जा की कभू स्वप्न में ऊ कल्पना नाँय कीनी। हाय चलते समय प्राणनाथ ने उठाय कै मोते प्रेम की द्वै बतियाँ हू तौ न कीनी। मोय चलती बेर अपनी चरण-रज तक ते बंचित कर गये। मोय धिक्कार ऐ। हे नाथ—

कर गहि लाये नाथ तुम, वादन बहु बजबाय।
पबहु न परसाये चलत, रत्नाबलिहि जगाय॥

पर या में तिहारौ दोस हू कहा ओ नाथ। मैं जगिबे कौ दम्भ जो भर रही ही। मैंने ई तौ तुम्हें सोते ते जगायबे कौ दम भरौ हो, फिर वाकौ ये फल तौ मिलतौ ही—

सोवत सों पिय जगि गये, जगिहु गई हौं सोय ।
कबहुँ कि अब रतनावलिहिं, आइ जगावहिं मोय ॥

पर नाथ या मैं मेरौ ऊ कहा दोषु ऐ । हौनी कहा नाँय कराय सकै ? नाथ, मैं तौ आपकी चरण-दासी हूँ । या मैं मेरौ किंचित् मात्र ऊ दोस नायें । अब तौ मेरी सुधि लेउ, प्राणधन !

हौं न नाथ अपराधिनी, तऊ छमा करि देउ ।
चरनन दासी जानि कै, बेगि मोर सुधि लेउ ॥

हूँ……मैं ये कहा कहि रही ऊँ, देखौ मेरी बुद्धि । रस्सी जर गई पर बल न गयौ । दुनियाँ मो पै थूक रही ऐ, पर मैं अबई अपने आप में निर्दोस ही बनी रहनों चाहि रही हूँ । (**अट्टहास करती है**) मोय अपने सम्बन्ध में ई कितनों भ्रम ऐ । (**कातर होकर**) नाँय नाँय नाथ ! मैं साँचेऊ बड़ी पातकिन ऊँ ; पै नाथ ! आप अपनी सहज शालीनता कब ते और कैसे भूल गये स्वामी—

छमा करहु अपराध सब, अपराधिन के आय ।
भली बुरी हौं आपकी, तजउ न, लेहु निभाय ॥

[**विह्वल होकर भूमि पर बैठ जाती हैं, तभी नन्ददास जी आते हैं ।**]

नन्ददास : भाभीजी, प्रणाम !

रत्नावली : कौन ? नन्ददास ! लालाजी ! लाला कहौ का तुम अपने भैया ते मिलि आये । कहा मो अभागिनी की करुण-कथा तुमने बिन करुणा-निधान कू सुनाय दयी ?

नन्ददास : (उदास भाव से) सब सुनाय दयी भाभी ।

भैया ने सब सुनी, फिर गम्भीर है गये। दो छिन कछू सोच कै बोले, 'नन्ददास रतना ते कहौ बु श्री रघुनाथ जी कू भजै तौ मैं बाते दूर नहीं हूँ।' इतनौ ही कहि कै भैया चुप्प है गये।

रत्नावली : **(ठंडी साँस लेकर)** हाय, नाथ ने मोकूँ खुलिकै संदेस ऊ नाँय भेजौ।

मोहि दीनों संदेस पिय, अनुज नंद के हाथ।
रतन समुझि जनि पृथक मोहि, जो सुमिरत रघुनाथ॥

नन्ददास : भाभी जी! अब आप या अधीरता कू छोड़ौ और धैर्य धारण करौ। भैया के संदेस के अनुसार भगवान् रघुनाथ जी कौ स्मरण करनौं ही अब आपकू योग्य है। या ही ते उनकी और आपकी आत्मा कू संतोष होयगौ।

रत्नावली : **(अधीरता से)** लाला! मैं उनकी आज्ञा ते कब बाहिर ऊँ। जामें उन्हें संतोष होय बामें ही मेरौ आनन्द है, पर तुम उनते संदेसौ तौ कहते—

प्रभु बराह पद पूत मँहि, जनम-मही पुनि एहि।
सुरसरि-तट महिं त्याग अस; गये धाम पिय केहि॥
तीरथ आदि बराह जे, तीरथ सुरसरि-धार।
याही तीरथ आय पिय, भजउ जगत करतार॥

नन्ददास : भाभी जी, क्यों इन असम्भावनान ते हृदय कू भारी करौ हौ। राम के रंग में रंग जायबे पै अब भैया की, घर, बार, पत्नी, जन्म-भूमि और भाई-बन्धु ते कहा आसक्ति? वे अब

तुम्हारे ही न है कै सबके है गये। तुम अब उनके पार्थिव शरीर कौ ध्यान छोड़ कै उनके उपदेश पै आचरण करौ। याही ते तुम्हारौ पतिब्रत धर्म सिद्ध है जायगौ, भाभी।

रत्नावली : (**उदास भाव से**) हाँ लाला! त्यारौ कह्यौ सत्य ई है। भला अब मेरे ऐसे भाग्य कहाँ जो फिर उनके दर्सन कर सकूँ—

कहाँ हमारे भाग अस, जो पिय दर्सन देंय।
बाहि पाछिली दीठि सों, एक बार लखि लेंय॥

(**कुछ ठहर कर**) पर जो हौनो हो, है गयौ। हे राम जी महाराज! मेरे प्राणनाथ कौ कल्याण करियों। मैं तुमते ये ही अँचरा पसार कै माँगूँ हूँ—

जनम जनम प्रिय पद-पदम, रहै राम अनुराग।
पिय बिछुरन होय ना कबहू, पाबहूँ अचल सुहाग॥

(**फिर कातर हो जाती हैं**) लाला जी, चलौ अब मेरे ताँई ऊ सोरों में एक कुटी छबाय देउ। मैं म्हाँ ही बाबाजिन है कै प्राणनाथ के संदेस पै आचरन करूँगी। म्हईं प्राणनाथ और बिनके इष्टदेव कौ स्मरण कर्त भये अन्त समैं तक बिन की प्रतीच्छा करूँगी। पर मोय एक बात कौ भेद तौ बताय देउ लाला।

नन्ददास : पूछौ भाभी जी।

रत्नावली : लालाजी! भला मोय ये तौ नेक समझाइ देउ कै—

जासु दलहि लहि हरस हरि, हरत भगत भव-रोग।
तासु दास-पद-दासि ह्वै, रतन लहत कत सोग ॥

नन्ददास : भाभी जी, आप धैर्य धारण करौ। काहू दिन स्वयं भैया आय कै तुम्हें अवश्य तुम्हारे जा प्रश्न कौ उत्तर दिगे, ऐसौ मेरौ विस्वास ऐ। चलौ अब भौत बेर है गयी। हमें अबई गंगा पार करनी ऐ।

रत्नावली : चलौ लाला।

[दोनों जाते हैं। पटाक्षेप।]

: ५ :

प्रेम-देव की छबि...

'रसखानि' : एक परिचय :—हिन्दी के उन मुसलमान कवियों में जिनका भारतेन्दु जी ने "इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दू बारियै," कहकर स्तवन किया है, 'रसखानि' जी का नाम बहुत महत्त्व-पूर्ण है। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि अन्य कवियों की भाँति ही 'रसखानि' जी के जीवन-वृत्त की जानकारी के सम्बन्ध में भी प्रमाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है। स्वयं 'रसखानि' जी ने अपनी प्रेम 'वाटिका' में अपने सम्बन्ध में केवल चार दोहे कहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

"देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा[१] वंश की, ठसक छाँड़ि रसखान॥
प्रेम-निकेतन श्री बनहिं, आइ गोवर्द्धन धाम।
लह्यौ सरन चित चाहि कें, जुगल सरूप ललाम॥

---

१. 'रसखानि' किस बादशाह वंश के थे और दिल्ली के किस गदर में उसे स्मशानवत् देखकर उन्हें राजनीति और घर से वैराग्य हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अपनी-अपनी बुद्धि के घोड़े अलग-अलग दौड़ाये हैं; परन्तु हमें इस सम्बन्ध में डा० भवानी शंकर जी याज्ञिक का मत ही अधिक उचित और ग्राह्य प्रतीत होता है। डा० याज्ञिक के अनुसार 'रसखानि' शेरशाह सूरी के वंश से सम्बन्धित पठान थे। उनका जन्म संवत् १५६० के आस-पास हुआ। संवत् १६१२ के आस-पास वे व्रज आये और १६७१ में उन्होंने 'प्रेम-वाटिका' की रचना की। (विस्तृत जानकारी के लिये देखिये व्रज साहित्य-मण्डल, मथुरा द्वारा प्रकाशित 'सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ' में डा० मायाशंकर याज्ञिक का लेख 'कविवर रसखानि'।

तोरि मानिनी तें हियौ, फोरि मोहिनी मान।
प्रेम-देव की छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखानि॥
बिधु सागर रस इन्दु सुभ, बरस सरस रसखानि।
प्रेम-बाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरष बखान॥''

इन दोहों के अतिरिक्त पुष्टि सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ 'दो सौ बावन बैष्णवन् की वार्त्ता' में भी 'रसखानि' जी का चरित्र दिया गया है। उसका इन दोहों से मिलान करने से यह सिद्ध होता है कि ये दिल्ली के शाही-खानदान से सम्बन्धित थे और गृह-कलह, गदर तथा किसी प्रेमिका[1] से तिरस्कृत होकर ये गोवर्धन आये और वहाँ विट्ठल नाथ जी की कृपा से अनन्य कृष्ण-भक्त बन गये। इनका सहज प्रेमी हृदय ईश्वरोन्मुख होकर भगवान् श्याम सुन्दर के रंग में कितना गहरा रंग गया ये इनकी कविता से स्पष्ट है।

ब्रज में आने पर कृष्ण-भक्ति का रंग इन पर ऐसा छाया कि यावत जीवन ये यहीं बने रहे। लगता है कि शायद वृद्धावस्था में ये महावन के आस-पास ही रहने लगे हों, क्योंकि इनकी समाधि महावन के निकट

१. 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में 'रसखानि' जी का पहले दिल्ली के किसी सुन्दर लड़के पर आसक्त होने का उल्लेख है, परन्तु ये बात कुछ जँचती नहीं है क्योंकि 'तोर मानिनी ते हियौ' से यह स्पष्ट है कि 'रसखानि' किसी सुन्दर बालक पर नहीं वरन् किसी सुन्दरी पर ही अनुरक्त थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्टि-सम्प्रदाय के वार्त्ताकार ने जो स्वयं भगवान् कृष्ण के बाल कृष्ण रूप के ही उपासक थे बालक श्याम सुन्दर के सौन्दर्य से 'रसखानि' के प्रेमास्पद के सौन्दर्य की तुलनात्मक हीनता को प्रभावपूर्ण रूप से सिद्ध करने के लिये अनन्त सौन्दर्य सम्पन्न बाल कृष्ण के समान 'रसखानि' जी के पुराने प्रेमास्पद को भी बालक कहना ही उचित समझा होगा। वार्त्ता की शेष घटना का इन दोहों से किसी प्रकार का कोई व्यतिक्रम सिद्ध नहीं होता, वरन् 'गोवर्द्धन वास' से भी यही प्रकट होता है कि 'रसखानि' श्री नाथ जी के दर्शन करके विट्ठल नाथ जी से दीक्षित होकर अवश्य ही पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये, क्योंकि गोवर्द्धन उस समय वहाँ श्री नाथ जी के विराजने के कारण अष्टछाप की स्वर-लहरी में विभोर और भक्ति-रस में सराबोर था।

ही रमणरेती के नीरव, शान्त और पावन वातावरण में आज भी जीर्ण-शीर्ण दशा में खड़ी है।

'रसखानि' जी की मृत्यु अनुमानतः ८०-८५ वर्ष की आयु में १६७५ में या उसके भी और बाद हुई। वे संवत् १६१२ के आस-पास ब्रज आये और आते ही पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। वार्त्ता के अनुसार तो वे एक वैष्णव से श्री नाथ जी का चित्र प्राप्त करके उन्हें ही खोजते-खोजते ब्रज आये थे। ऐसी दशा में कुछ विद्वानों का ये मत कि वे संवत् १६२७ में वैष्णव हुए ठीक प्रतीत नहीं होता और न 'मूल गोसाईं चरित' जैसे जाली ग्रन्थ के आधार पर यही माना जा सकता है कि वे तीन वर्ष पर्यन्त रामायण की कथा सुनते रहे। यदि 'रसखानि' तीन वर्ष तक रामायण सुनते तो यह असम्भव था कि उसके संस्कार उनके अन्तस्थल पर न पड़ते और वे उनके काव्य में उचित रूप से व्यक्त न होते।[1] 'रसखानि' द्वारा दयालदास नामक किसी व्यक्ति से ब्रज से बाहर जाकर ३ वर्ष तक रामचरितमानस सुनने की बात हमारे विचार से एक कपोल कल्पना है। जहाँ तक हमारा विचार है 'रसखानि' ब्रज आते ही कृष्ण-

---

१. डा० मायाशंकर याज्ञिक की यह धारणा सही नहीं है कि विट्ठल नाथ जी संवत् १६२२-२३ में पहली बार ब्रज आये और इस कारण रसखानि सं० १६२७ के आस-पास उनके शिष्य हुए। यद्यपि विट्ठल नाथ जी का आरम्भिक निवास-स्थल अड़ैल था, परन्तु ब्रज में उनका अस्थायी आवागमन निरंतर रहता था। यह अनेक घटनाओं से स्पष्ट है। संवत् १६०२ में विट्ठल नाथ जी ने 'अष्टछाप' की स्थापना ब्रज में ही की थी।

डा० याज्ञिक का यह कथन ठीक है कि विट्ठल नाथ जी को गोकुल की जमीन सं० १६२३ में मिली और वे १६२७ से गोकुल में स्थायी रूप से बसे; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इससे पूर्व विट्ठल नाथ जी का गोकुल से कोई सम्बन्ध न था। नहीं कहा जा सकता कि संवत् १६२३ से पहले भी विट्ठल नाथ जी कितनी बार गोकुल आये और वहाँ रहे। वास्तविकता तो यह है कि गोकुल की महत्ता महाप्रभु वल्लभाचार्य के समय में ही स्थापित हो चुकी थी। स्वयं वल्लभाचार्य जी ने वहाँ श्रीमद्-भागवत् का पारायण किया था, और अनेक वैष्णव वहाँ तभी बस चुके थे।

भक्ति में ऐसे गहरे रंग गये कि उन्हें फिर कुछ और सुनने-समझने का अवकाश ही नहीं रहा, अपनी यही धारणा हमने इस 'रूपक' में व्यक्त की है।

जहाँ तक 'रसखानि' के काव्य और उनकी भाषा की सरसता का सम्बन्ध है उस सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। उनकी कविता बेजोड़ है। उनके दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया और पद मानो सभी स्वयं बोल-बोलकर कह देते हैं कि हम 'रसखानि' के लिखे हैं। 'रसखानि' जी ने बहुत-थोड़ा लिखा है पर जो लिखा है वह अद्वितीय है।

पात्र-परिचय

रसखानि : दिल्ली के शाही वंश से सम्बन्धित पठान, बाद में अनन्य कृष्ण-भक्त।

साधू : रसखानि को भक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त करने वाले एक विरक्त बाबाजी।

कमण्डल दास : उक्त साधू का एक अल्हड़ शिष्य (काल्पनिक पात्र)।

विट्ठल नाथ : पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य 'रसखानि' के गुरु।

[कुछ ब्रजवासी व भगवान् कृष्ण आदि]

प्रथम दृश्य

[दिल्ली नगर के बाहर के एक बीहड़ बन-प्रदेश में चारों ओर से साँय-साँय हो रही है। पशु-पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं। एक पत्थर की शिला पर 'रसखानि' बैठे प्रलाप कर रहे हैं।]

(पार्श्व संगीत)

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छाँड़ि रसखान॥

रसखानि : बादशाही वंश की वह शान गयी। आपस की कलह का और नतीजा भी और क्या होना था? फीरोज, आदिलशाह, इब्राहीम और सिकन्दर-शाह चारों बादशाह सवा वर्ष में ही मारे गये। इन चारों के शाहंशाह होने के महल बनाये जो बनने के साथ ही ढह गये और उनके साथ ही वे आज कबर में गढ़े सो रहे हैं। अपने स्वार्थ के कारण इन्होंने पठान-वंश की इज्जत धूल में मिला दी। सल्तनत को पाकर गँवा दिया और दिल्ली का स्वर्ग-सा शहर आज नरक से भी बदतर हो गया। ओह! एक सेर ज्वारी का

मूल्य २॥ टंक और वो भी खोजने से मिलती नहीं। कैसा अंधेर है ? जो कभी कानों से भी नहीं सुना वह आज आँखों से देखना पड़ रहा है। इंसान आज इंसान का मांस खा जाना चाहता है, इस दिल्ली में। धिक्कार है इसे। (**कुछ सोचकर**) और आज मेरा भी इस दिल्ली में क्या रह गया है ? मेरी दिल्ली तो वही है जहाँ महबूबा हो। जब वो ही अब दिल्ली में नहीं तो मेरे लिए वो दिल्ली कानी कौड़ी के बराबर भी तो नहीं है। मैं...मैं उसे खोजकर ही मानूँगा। मेरी प्राणप्यारी, मेरी महबूबा, मेरी मानिनी तुम कहाँ हो ? (**शिला पर विह्वल होकर लुढक कर अचेत हो जाते हैं।**)

साधू : (**प्रवेश करता है, 'रसखानि' को अचेत देखकर**) बेटा कमंडल दास !

कमंडल दास : हाँ, गुरुजी !

साधू : बेटा देख तो ये उस ओर कौन दुखी पड़ा है ?

कमंडल दास : (**पास जाकर देखता है, फिर उछलकर दूर कूदता हुआ**) हरे हरे, गुरुजी ये तो मलेच्छ है। मुझ पर इसकी छाया पड़ गई, गुरुजी ! मैं अशुद्ध हो गया। हाय-हाय मेरा धर्म नष्ट हो गया ! (**रोता है।**)

साधू : बेटा, तू कैसी मूर्खता की बात करता है, मनुष्य मनुष्य सब बराबर हैं, फिर वह तो बेचारा कोई

दुखी है। दुखी की सहायता करना सबसे बड़ा धर्म है **(पास जाकर)** आह ! ये बेचारा तो अचेत पड़ा है। कोई अकाल का मारा दीखता है, ला जरा कमंडल में से यमुना-जल तो डाल इसके मुँह में, इसे चेत कराऊँ।

कमंडल दास : गुरुजी, मलेच्छ के मुँह में डालने से क्या जमुना-जल अपवित्र न होगा ?

साधू : नहीं बेटा, जमुना-जल पीने से यह संसार के माया-मोह में ग्रसित अपवित्र जीव उलटा पवित्र हो जायेगा।

कमंडल दास : तो जैसी आपकी इच्छा। **(मुँह में पानी डालता है। दोनों उपचार करते हैं। 'रसखानि' की चेतना लौटती है।)**

रसखानि : मेरी···महबूबा···मेरी···प्यारी···तुम······

साधू : चेत करो साधक। कौन किसका महबूब है और कौन किसकी महबूबा ? ये व्यर्थ का अविचार छोड़ो।

रसखानि : **(आँख खोलकर)** कौन हो तुम जो मुझे मेरी महबूबा से जुदा करना चाहते हो। **(कुछ स्वस्थ होकर साधू को देखकर बैठा होता है)** बाबा, आप मुझे क्षमा करिये। आप परोपकारी लगते हो, परन्तु कभी-कभी भलाई भी बुराई हो जाती है बाबा ! आज मैं इस वक्त अपनी महबूबा के गले में गलबहियाँ डाले कितने सुख

से सो रहा था, परन्तु आपने मुझे जगाकर मेरा सारा संसार सूना कर दिया।

साधू : तुम भूलते हो साधक ! सोने में सुख कहाँ ? वह तो आत्म-प्रवंचना भर है। सुख तो जागने में ही है। तुम किस महबूबा के अविचार में अपने को भूले हुए हो बेटा। उसे भूल जाओ।

रसखानि : कैसे भूल जाऊँ बाबा ? जिस दिन से उसे देखा है दुनियाँ में कोई चीज आँखों तले ही नहीं आती। उसके अंग-अंग से खूबसूरती टपकी पड़ती है। तुम्हें उस महबूबा का कुछ पता मालूम हो तो बताओ बाबा। मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ। **(पाँव पकड़ता है।)**

साधू : अधीर न हो बेटा ! भगवान् तेरा भला करेंगे। पर एक बात बता, अगर हम तुझे तेरी महबूबा से भी सहस्रों गुने सुन्दर एक महबूब का पता बतलादें तब क्या तू अपनी महबूबा को छोड़ देगा ?

रसखानि : मेरी महबूबा से बढ़कर कोई महबूब इस दुनियाँ में हो ही नहीं सकता, बाबा।

साधू : यह तेरा गलत खयाल है, बेटा। हमारे पास एक ऐसे महबूब का पता है जो हमेशा बालक बना तेरे साथ ही रहे। उस पर न रोग का प्रभाव पड़ता है न अवस्था का, और बाँसुरी तो ऐसी बजाता है कि उसके पीछे न जाने तेरी महबूबा

से भी सुन्दर कितनी ही महबूबा भागी-भागी फिरती हैं।

रसखानि : अगर आपकी ये बात सच है, तो मैं एक बार उसे अवश्य देखना चाहता हूँ। बाबा, मुझे अपने महबूब को दिखलाओ।

साधू : महबूब को तो पीछे देखना प्रेमी, पहले उसका चित्र ही देख लो। (**श्री नाथ जी का चित्र देता है**)

रसखानि : (**चित्र देखकर**) आह! (**भाव-विभोर होकर चित्र को छाती से लगाता है, मस्तक पर धारण करता है, फिर चूमता है**) बाबा, जैसा तुम कहते हो सचमुच ये महबूब ऐसा ही है। इसका चित्र देखकर ही जब मैं पागल हुआ जा रहा हूँ, तो जब इसे देखूँगा तो न जाने क्या होगा। अब मैं इसके बिना रह नहीं सकता। बाबा, मुझे इसका पता बतला दो। मैं आज ही जाकर उससे दोस्ती करूँगा।

साधू : बेटा, ये महबूब ब्रज में रहता है। गिरिराज पर्वत पर इसका निवास है। गुसाईं विट्ठल नाथ जी की आजकल इससे बड़ी प्रीति है। वे अवश्य ही तुझको इससे मिला सकेंगे।

रसखानि : धन्य है बाबा आपको, जो आज आपने मुझे सच्चे महबूब का पता बतलाया। अब इतनी कृपा और करो कि ये चित्र मुझसे मत लो।

इसी के सहारे मैं तब तक जिऊँगा जब तक मुझे मेरा महबूब नहीं मिलता। जब वह मुझे मिलेगा तब इसी से उसकी शक्ल भी मिलाकर देख लूँगा, जिससे मुझे धोखा न हो। मैं बहुत ठोकरें खा चुका हूँ, बाबा।

साधू : तो तुम इस चित्र को ले जाओ भक्त। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।

रसखानि : आपकी बड़ी कृपा है बाबा, प्रणाम।

[साधू आशीर्वाद देते हैं, एक ओर से साधू व उसका शिष्य कमंडल दास और दूसरी ओर से प्रेम में छके हुए 'रसखानि' चित्र देखते हुए गाते जाते हैं।]

रसखानि : या छबि पै रसखानि अब, वारों कोटि मनोज।
जाकी उपमा कबिनु नहिं, पाई, रहे सु खोज ॥

दूसरा दृश्य

[स्थान जतीपुरा के निकट गोविन्दकुण्ड। प्रकृति की रमणीक गोद में सुन्दर पक्का कुण्ड बना है। कुछ दूरी पर गिरिराज पर्वत के ऊपर श्री नाथ जी का मन्दिर दीख रहा है। मंदिर पर ध्वजा लहरा रही है।]

तोरि मानिनी सों हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेम देव की छबि निरखि, भये मियाँ रसखानि ॥

रसखानि : (**उन्मुक्त की भाँति आते हैं, हाथ में वही चित्र है**) मेरे महबूब, तुझे अब तक कितने मन्दिरों में खोजा, कितने दरवाजे झाँके, पर तेरा कोई पता नहीं लगा। आखिर अभी हमें कितना और तरसावेगा, पर याद रख, ये रसखानि भी तुझे यों छोड़ने वाला नहीं है। हम प्रेम के मर्म में मरकर के जीना जानते हैं, ये समझ ले कि हम ये बात जान गये हैं कि—

प्रेम फाँस में फँस मरें, सोई जियें सदाहि।
प्रेम मरम जाने बिना, मरि कोऊ जीवत नाहि॥
प्रेम अगम, अनुपम अमित, सागर सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नहीं रसखानि॥

[**एक ब्रजवासी का प्रवेश**]

रसखानि : अरे भाई, सुनना, नैक इधर आना।

ब्रजवासी : कहा बात है शेख जू !

रसखानि : (**चित्र दिखाकर**) अरे भैया ! देख ये तस्वीर। मैं इस नटखट लड़के को कई दिन से ढूँढता फिरता हूँ। पाँवों में छाले पड़ गये। जान बेजान हो रही है, पर इस चंचल का कोई पता नहीं चलता। अगर तुम्हें इसका पता हो तो कुछ बता दो भैया।

ब्रजवासी : शेखजी, ये लड़का नायें ये तौ साक्षात् भगवान् ऐं।

रसखानि : भैया, ये लड़का हो चाहे भगवान् मुझे इससे कुछ मतलब नहीं। मैं तो इसकी सूरत पर दीवाना हूँ। मुझे इसके रहने का स्थान बतला दो। तुम्हरी बड़ी कृपा होगी।

ब्रजवासी : जिई बात ऐ, शेखजी, तौ जा पर्वत पै चढ़िकै चले जाऔ, वा मंदिर में ये छोरा रहै, वा महल में, समझे। (**दिखाता है**)

रसखानि : तब तो मैं अपने महबूब के घर के पास ही हूँ। अच्छा भाई तुमने बड़ी कृपा की।

[**ब्रजवासी जाता है, रसखानि पर्वत पर चढ़कर मंदिर में घुसने की चेष्टा करता है, द्वार-रक्षक रोकते हैं। रसखानि अन्दर जाने को हठ करते हैं। गुत्थमगुत्था होती है। अन्त में रसखानि को ढकेल दिया जाता है। वे लुढ़ककर नीचे गिर जाते हैं।**]

रसखानि : आह! प्रेमी के परिचारकों से पिटने में भी क्या मजा है, परन्तु प्यारे, क्या तुम समझते हो कि इस मार से डर कर रसखानि तुम्हारा पीछा छोड़ देगा। ये तो नामुमकिन बात है। जहाँ तुम जैसे माशूक रहें वहाँ इतना सख्त पहरा तो जरूरी है ही। इसमें मेरे घबड़ाने की बात ही क्या है? चाहे कितनी भी मार लगवाओ हमारे प्रेम की एकरसता कम हो नहीं सकती—

डरै सदा, चाहै न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एक रस चाहिकै, प्रेम बखानों सोय॥

[**धीरे-धीरे रात्रि का दृश्य होता है, 'रसखानि' मंदिर की ओर आँखें गढ़ाये कुण्ड के किनारे पर लेटते हैं। आँखें मिच जाती हैं, स्वप्न में कृष्ण मुरली बजाते दीखते हैं।**]

रसखानि : हैं, प्यारे, क्या तुम मेरे पास आ गये ?

कृष्ण : मैं तो ते दूर ही कहाँ ऊ रसखानि। तू भूखौ चौं पड़ौ ऐ। उठि और भोजन करि।

[**रसखानि एकदम उठते हैं, कृष्ण अदृश्य हो जाते हैं। कृष्ण को न देखकर 'रसखानि' और विह्वल हो जाते हैं, प्रकाश होता है जो सूर्योदय का सूचक है। सूर्योदय के साथ ही विट्ठल नाथ जी एक वैष्णव के साथ आते हैं। विट्ठल नाथ जी के आते ही रसखानि प्रलाप के स्वर में पुकार उठते हैं।**]

रसखानि : अरे भैया, औ भैया, क्या तुम कुछ हमारी सहायता कर सकते हो ?

विट्ठल नाथ : भैया, कहौ कहा बात ऐ ?

रसखानि : देखो इस महल में (**मन्दिर की ओर हाथ करके**) जो लड़का रहता है मुझे वो तुम्हारा घनिष्ठ मित्र दीखता है। तुम मुझे एक बार उससे मिलवा दो, तुम्हारा बहुत भला होगा।

विट्ठल नाथ : पर ये तुमने कैसें जानी कै ये लरिका हमारौ मित्र ऐ।

रसखानि : जबसे मैं आपको देख रहा हूँ आपकी नजर बराबर उसी के महल की ओर गढ़ी है। इससे मुझे ये जँच गया है कि आपकी अवश्य ही इससे गहरी प्रीति है।

विट्ठल नाथ : (**मुस्करा कर**) तौ तुम जा छोरा ते जरूर मिलौगे, रसखानि ।

रसखानि : इस छोरा कै पीछे ही तो मैं तीन दिन से बिना खाये-पिये, धूनी रमाये यहाँ पड़ा हूँ महाराज ।

विट्ठल नाथ : पर जाते मिलबे के ताईं तुम्हें बड़े कठोर नियम पालने पड़िंगे ।

रसखानि : इसके लिये आप जो कहेंगे, मैं करूँगा ।

विट्ठल नाथ : अच्छौ तौ या कुण्ड में स्नान करिकै अपरस में हमारे पास आऔ ।

रसखानि : जो आज्ञा (**स्नान करके गुसाईं जी के पास आता है। गुसाईं जी मन्त्र देते हैं। मन्त्र लेकर 'रसखानि' प्रणाम करता है। गुसाईं जी आशीर्वाद देते हैं।**)

विट्ठल नाथ : रसखानि ! अब तुम आज ते भगवान् की ग्वाल-मंडली के सखा भये। चलौ और अपने यार ते मिलौ ।

रसखानि : जो आज्ञा जयराज ! (**दोनों पर्वत पर चढ़ते हैं। बीच से पर्दा हटता है। सामने कटि-काछनी में श्री नाथ जी जैसे शृंगार में कृष्ण दिखलाई देते हैं।**)

विट्ठल नाथ : लेउ रसखानि, अपने प्यारे ऐ पहचान लेउ ।

रसखानि : आपकी चरण-रज की कृपा से मैं इसे भली प्रकार पहचान गया हूँ जयराज ! मेरा रोम-रोम इसकी बाँकी अदाँ पर न्यौछावर है—

या लकुटी और कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि कौ सुख, नंद की धेनु चराय बिसारौं ॥
'रसखानि' जबै इन आँखिन ते, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलिधौत के धाम, करील की कुंजन ऊपर वारौं ॥

[मुरली का स्वर उभरता है]

रसखानि : (गाते हैं)

कानन दै अँगुरी रहिबौ, जबही मुरली-धुनि मन्द बजै है।
मोहिनी तानन सों रसखानि, अटा चढ़ि गोधन गैहै तौ गैहै ॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि, कानहि कोऊ कितनौं समुझैहै।
माई री या मुख की मुसकानि, सँभारी न जैहै, न जैहै, न जैहै ॥

जैराज ! आज आपकी कृपा से मुझे अपने प्यारे के दर्सन हुए। अब आज्ञा दें······।

कृष्ण : अरे सारे, अब जाय कहाँ ऐ। यौं सस्तौ कैसें छूटै है। अबई थोरी देर में तोय मेरे संग गैया घेरिबे चलनौ परैगौ।

विट्ठल नाथ : रसखानि ! अब तुम्हें सख्य-रस सिद्ध भयौ। याते आज ते अब तुम निरन्तर श्री गोवर्द्धनधर के संग उनकी बाल-लीलान को रसास्वादन करौ।

रसखानि : अब ये अहीर मुझसे बच कर नहीं जा सकता महाराज ! अब तो मैं हर तरह इसका हो गया समझो—

बैंन वही इनकौ गुनगाय, औ कान वही उन बैंन सों सानी ।
हाथ वही, उन गात सरैं, अरु पाँइ वही जु वही अनुजानी ॥
जान वही, उन प्रान के संग, औ मान वही जु करै मनमानी ।
त्यों रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानी ॥

[पटाक्षेप]

: ६ :

जूठो पतरो

कवयित्री—ओरछा के संगीत और साहित्य-प्रेमी नरेश महाराज इन्द्रजीत सिंह के राज-दरबार में जितने कवि और कलाकार थे, उनमें महाकवि केशवदास के बाद दूसरा सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तित्व प्रवीणराय का ही था। कला-प्रेमी महाराज इन्द्रजीत सिंह ने अपने यहाँ एक संगीत का केन्द्र स्थापित किया था जिसमें अत्यन्त रूपवती, गुणवती, कलावती और हाव-भाव, कटाक्षपात निपुणा छः वेश्याएँ थीं, जिनके नाम थे (१) प्रवीणराय, (२) रंगराय, (३) नवरंगराय, (४) तीन तरंग (५) विचित्रनयना, और (६) ललित लोचना। इन सभी कुशल कलाकारों में प्रवीणराय सर्वोपरि थीं, और ओरछेश उसमें विशेष रूप से अनुरक्त थे।

प्रवीणराय एक कुशल गायिका ही न थीं, वे एक सफल कवयित्री और अद्वितीय सुन्दरी भी थीं। केशवदास जी उसके काव्य-गुरू थे और उन्होंने इन्हीं के लिये अपने ग्रन्थ 'कवि प्रिया' की रचना की थी। रसिक कवि केशवदास प्रवीणराय के सौन्दर्य और प्रतिभा के कैसे उपासक थे, वह उनके दो दोहों से भली प्रकार प्रगट हो जाता है। उन्होंने राय प्रवीण को 'रमा' और 'शारदा' तक कहने में भी कोई झिझक नहीं दिखलाई।

"रतनाकर लालित सदा, परमानन्दहि लीन।
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि रायप्रबीन॥
रायप्रबीन कि सारदा, सुचि रुचि राजत अंग।
बीना पुस्तक धारिनी, राजहंस सुत संग॥"

जब सम्राट् अकबर ने प्रवीणराय के सौन्दर्य का समाचार सुना, तो

वे मन ही मन उस पर रीझ गये। उन्होंने इन्द्रजीतसिंह को उसे अपन दरबार में भेज देने का आदेश भेजा, परन्तु प्रवीणराय ने ओरछेश के प्रेम-बन्धन को भारत-सम्राट् अकबर के वैभव से अधिक महत्व दिया। यद्यपि वह एक वेश्या थीं, किन्तु उनका यह आचरण एक पतिपरायण नारी से किसी प्रकार घटकर न था, इसका फल यह हुआ कि ओरछेश ने अकबर के प्रस्ताव पर आनाकानी करदी। वे प्रवीणराय को अपने यहाँ से भेजने को सहमत न हुए, परन्तु जब सम्राट् की त्यौरियाँ बदलीं; ओरछा-नरेश पर एक करोड़ जुर्माना कर दिया गया और प्रवीणराय को जबरदस्ती ले आने तक की आज्ञा दे दी गई तो महाराज इन्द्रजीत सिंह को विवशतापूर्वक प्रवीणराय को अपने यहाँ से भेज देना पड़ा।

इस प्रकार प्रवीणराय आगरे आईं, परन्तु अपनी कुशलता और काव्य-चातुर्य से उन्होंने अकबर को उन्हें फिर से ओरछा भेज देने को राजी कर लिया, और युक्तिपूर्वक वापस लौट गईं। यह घटना राय-प्रवीण की असाधारण योग्यता प्रत्युत्पन्न मति और सूझ-बूझ का प्रमाण है, जो हमें उनके चरित्र में सबसे अधिक आकर्षक प्रतीत होती है। प्रवीणराय के लौट जाने पर महाकवि केशवदास और राजा बीरबल ने युक्तिपूर्वक राजा इन्द्रजीत सिंह का जुर्माना भी माफ करा दिया था।

रायप्रवीण की रचनाओं का कोई संकलन उपलब्ध नहीं होता। उनके कुछ शृंगार-रस से परिपूर्ण स्फुट छन्द ही यत्र-तत्र पाये गये हैं। इनकी कविता में कोई ऐसी विशेषता तो नहीं लगती जिसे कविता को इनकी को देन कहा जा सके, परन्तु अपने काव्य-चातुर्य और काव्य-कौशल के बल पर ही अकबर से बच आना भी कोई आसान बात न थी।

प्रवीणराय सम्बन्धी एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित—

पात्र-परिचय

इन्द्रजीत सिंह : सम्राट् अकबर के समकालीन ओरछा-राज्य के अधिपति ।

केशवदास : महाराज इन्द्रजीत सिंह के प्रसिद्ध राज-कवि ।

प्रवीणराय : ओरछा राज-दरबार की अत्यन्त रूपवती राजनर्तकी गायिका, केशवदास जी की शिष्या, कवयित्री और ओरछा-नरेश की प्रेयसी ।

अकबर : भारत के प्रसिद्ध मुगल सम्राट् ।

[दूत, परिचारक आदि]

[महाराज इन्द्रजीत सिंह के राजमहल का एक कक्ष, बड़े सुरुचिपूर्ण और /कलात्मक ढंग से सजा है। सामने ही एक चौकी पर विचार-मग्न महाराज गम्भीर भाव-मुद्रा में बैठे एक पत्र पढ़ते दिखलाई देते हैं परन्तु थोड़ी देर उपरान्त ही खड़े होकर बड़बड़ाने लगते हैं।]

इन्द्रजीत सिंह : संसार समझता है, हम महाराजा हैं, हमारे हाथ में हमारी प्रजा की स्वतन्त्रता सुरक्षित है। परन्तु यह कितना अविवेकपूर्ण अविचार और असत्य है। क्या मृगराज सिंह पींजड़े में बन्द होने पर भी वनराज रह सकता है? क्या कोई देश या प्रदेश दूसरे के सैन्यबल या बाहुबल पर अपने को समर्थ समझ सकता है? कैसी मृगतृष्णा और वितृष्णा है ये सब। कहने को हम बुंदेलखंड के महाराजाधिराज हैं, परन्तु होने को हम अपने मन तक के महाराज नहीं रहे। पराधीनता ने हमारी आत्मा और मन तक को पराधीन बना दिया है। सम्राट् अकबर को क्या अधिकार है कि वह हमारे निजी जीवन और मनोविनोद में भी व्याघात डाले। हमारे

दरबार के कलाविदों को बरबस आगरा बुलाने का आदेश दे, और यदि हम उसे न मानना चाहें तो षड़यन्त्र करके एक करोड़ रुपये का जुर्माना सुना दिया जाय। प्रवीणराय को बलपूर्वक आगरा उपस्थित कराया जायेगा। क्या बुंदेलों की कृपाण इतनी कुंठित हो गयी है? **(आवेश में तलवार खींच लेते हैं।)**

केशवदास : **(प्रवेश करते हुए)** महाराज शान्त हों। वीर बुंदेलों की कृपाण कभी कुंठित नहीं हो सकती, परन्तु बुन्देले वीर समय की गति को पहचानते हैं। जो गुड़ देने से मरे उसे विष देकर मारना क्या भूल नहीं है, महाराज?

इन्द्रजीत सिंह : राजकवि केशव! आप मुझ से इस समय क्या कहना चाहते हैं, मैं कुछ समझ नहीं पा रहा।

केशवदास : आप तो राजनीति के पंडित हैं, महाराज! राजनीति के प्रश्न नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों से ही हल किये जाने चाहिएँ। जिस भावुकता में इस समय आप बहे जा रहे हैं, उसे तो हम कवियों के ही भाग में रहने दीजिये, नहीं तो हम लोग फिर क्या करेंगे, महाराज!

इन्द्रजीत सिंह : आचार्य ये परिहास का समय नहीं है। यह ओरछा-राज्य के सम्मान का प्रश्न है। अकबर की प्रवीणराय पर बहुत समय से दृष्टि है, पहले भी एक बार उन्होंने स्पष्ट रूप से उसे

आगरा भेजने का संदेश भेज दिया था, किन्तु हमने युक्ति से उसे टाल दिया तो अब हम पर षड्यन्त्र करके एक करोड़ का जुर्माना किया जा रहा है। प्रवीणराय को बलपूर्वक आगरा ले जाने को सैनिक बल के उपयोग की धमकी दी गई है। यह सब कैसे सहा जा सकता है राजकवि ! आप इसका कैसे समर्थन कर सकते हैं ?

केशवदास : मैं आपकी भावना से सहमत हूँ, महाराज ! हमें सम्राट् अकबर के इस कुविचार का सामना करना ही होगा, परन्तु युद्ध से नहीं शान्ति और युक्ति से ही हम अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं। युद्ध कभी किसी समस्या का सही समाधान नहीं करता राजन् ! स्वयं भगवान् ने भी युद्ध को तभी साधन के रूप में स्वीकार किया है, जब अन्य सब मार्ग अवरुद्ध हो गये हों, सुनिये—

कैटभ सों, नरकासुर सों, पल में मधु सों मुरसों जिन मार्यो।
लोक चतुर्दश 'केशव' रक्षक, पूरण बेद पुरान बिचार्यौ ॥
श्री कमला कुच कुंकुम मंडित, पंडित देव अदेव निहार्यौ।
सो कर माँगन कों बलि पै, करतारहु ने करतार पसार्यौ ॥

इन्द्रजीत सिंह : तो क्या आप ये चाहते हैं कि हम मुगल दरबार में जाकर अकबर के आगे हाथ पसारें और गिड़गिड़ायें। ये असम्भव है।

केशवदास : मैं ये कभी नहीं चाह सकता महाराज ! मैं केवल यही चाहता हूँ कि आप बिना कुछ चिन्ता किये प्रवीणराय को आगरा जाने दें। प्रवीण-राय मेरी शिष्या, प्रत्युत्पन्नमति महिला और कुशल कवयित्री है। मुझे विश्वास है कि किसी न किसी प्रकार वह स्वयं अकबर से अपना बचाव अवश्य कर लेगी। मुझे उसकी योग्यता और बुद्धि में पूरी आस्था है। प्रवीणराय स्वयं अपनी चिन्ता कर सकती है। उसे आपकी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं होगी महाराज।

इन्द्रजीत सिंह : लगता है कि इस समय ओरछा-राज्य के सामंत यही चाहते हैं कि सम्राट् अकबर के भेजे इस विष-चषक से पैगाम को हम पियें ही। अच्छा कविवर ! मंत्रीगण और आप सब यदि यही चाहते हैं, तो फिर हम यही करेंगे, इस विष को पियेंगे। भगवान् शंकर ने तो कालकूट पिया था, राजकवि !

केशवदास ! : आपको धन्य है महाराज ! इस समय आपके इस साहसपूर्ण निर्णय ने ओरछा-राज्य को एक भयंकर संकट से उबार लिया है। भगवान् इसका सुफल आपको शीघ्र ही दिखलायेंगे यह हमारा विश्वास है—अच्छा तो, अब आप विश्राम करें। मैं चलता हूँ। महाराज की जय

हो। (**जाते हैं, निराश भाव से महाराज बैठ जाते हैं।**)

दूत : महाराज की जय हो ! सुन्दरी प्रवीणराय आपसे मिलना चाहती है।

इन्द्रजीत : (**कुछ सकपकाकर**) प्रवीणराय (**फिर सँम्हलकर**) अच्छा आने दो।

दूत : जो आज्ञा ! (**जाता है, सौन्दर्य की साकार तिमा सी प्रवीणराय आती हैं।**)

प्रवीणराय : महाराज की जय हो !

इन्द्रजीत : आओ सुन्दरी, विराजो। हम तुम्हें बधाई देते हैं।

प्रवीणराय : क्या महाराज आज मुझे घर से निकाले जाने के उपलक्ष्य में बधाई दे रहे हैं ?

इन्द्रजीत : (**कुछ विह्वलता के साथ**) नहीं प्रवीणराय, जब तुम हमारे हृदय में इतनी गहरी पैठी हो तो तुम्हारा निकासा कैसा ? सच तो ये है कि आज ओरछा-दरबार की शोभा भारत सम्राट् अकबर के मिस सारे भारतवर्ष की शोभा बनने जा रही है। हमें तुम्हारी इस सम्मान-वृद्धि पर प्रसन्नता है और हम इसी उपलक्ष्य में तुम्हें बधाई देना चाहते हैं, सुन्दरी !

प्रवीणराय : (**ठंडी स्वाँस लेकर**) जले पर भी नमक। (**राजा की ओर देखकर**) आपका यह व्यंग्य बड़ा निर्मम और निष्ठुर है महाराज ! याद रखिये

छोटे से मानसरोवर में निवास करने वाली राजहंसनी को कभी किसी ने अथाह सागर में रहने की कामना करते नहीं देखा। प्रवीणराय केवल महाराज इन्द्रजीतसिंह के लिये ही जन्मी है और इसीलिये मैं आपसे आज कुछ पूछना चाहती हूँ।

इन्द्रजीत : मैं तुम्हारी बात जानता हूँ प्रवीणे ! पूछो, क्या पूछना चाहती हो तुम मुझसे ?

प्रवीणराय : महाराज,

आई हौं बूझन मंत्र तुम्हें, निज स्वासन सों सगरी मति गोई।
देह तजौं कि तजौं कुल-कानि, हिये न लजौं लजि है सब कोई ॥
स्वारथ औ परमारथ कौ पथ, चित्त बिचार कहौ तुम सोई।
जामें रहे प्रभु की प्रभुता और मोर पतिव्रत भंग न होई ॥

इन्द्रजीत : तुम ये मुझसे पूछती हो प्रवीणे ! इस प्रश्न का उत्तर तो अपने हृदय से ही पूछो। मैं राजपूत हूँ सुन्दरी ! यदि तुम आगरा न जाना चाहो तो सुख से रुक सकती हो, हम राजपूतों की तलवार सदा नारी की रक्षा को प्रस्तुत रहती आई है। जब तक हमारे तन में प्राण और कर में करवाल है तुम्हें बादशाह अकबर तो क्या, इन्द्र भी नहीं ले जा सकते। हम इन्द्रजीत सिंह हैं यह भली प्रकार समझ लो।

प्रवीणराय : आपके इस वीरोचित आश्वासन के लिये कृतज्ञ हूँ महाराज, परन्तु मुझे अपने इस नश्वर शरीर

से ये बुन्देलखण्ड और आप कहीं अधिक प्यारे हैं। मैं अपने जीवन के लिये सहस्रों जीवनों का बलिदान नहीं चाहती। मैं भी इस सतियों के देश में जन्मी हूँ। स्वयं ही मैं अपनी रक्षा कर सकूँगी, ऐसा मेरा विश्वास है, महाराज! **(एक दम विह्वल होकर)** अच्छा महाराज तो अब मुझे आज्ञा दीजिये। मुझे बादशाह की बाँदी बनने जाना है।

इन्द्रजीत : **(निराशा को दबाने का प्रयत्न करते हुए)** इतनी कातर न हो प्रवीणे, भगवान् तुम्हारा अवश्य ही कल्याण करेंगे।

प्रवीणराय : **(बायीं आँख को मीड़ते हुए, स्वगत)** हैं, महाराज के मुँह से 'कल्याण' शब्द के निकलते ही मेरा ये बाम नेत्र फड़क उठा है। **(प्रत्यक्ष)** आपका वचन सत्य है महाराज! हे मेरे बाम नेत्र, तू और फड़क। तेरी इस फड़कन ने इस समय मुझे जो संबल दिया है, लगता है कदाचित उस बल पर मैं सम्राट् अकबर से जूझ सकूँ। ऐ मेरे बाँये नयन, तू बता तो क्या मुझे फिर शीघ्र ही अपने प्राण प्यारे महाराज इन्द्रजीतसिंह के दर्शनों का सौभाग्य होगा? क्या तेरी इस धड़कन का मुझे सचमुच ही फल मिलेगा। आह, यदि कहीं ऐसा ही हुआ तो हे मेरे प्यारे बाम नयन—

सीतल समीर ढार, मंजन कै घनसार,
अमल अँगोछे आछे मन से सुधारिहौं।
देहौं ना पलक एक लागन पलक पर,
मिलि अभिराम आछी तपनि उतारिहौं॥
कहत 'प्रवीनराय' आपनी न ठौर पाय,
सुनि बाम नैन या वचन प्रतिपालिहौं॥
जब ही मिलेंगे मोहि इन्द्रजीत प्रान प्यारे,
दाहिनो नयन मूँदि तोही सौं निहारि हौं॥

[प्रवीणराय और इन्द्रजीतसिंह प्रेम-भाव में विभोर एक दूसरे की आँखों में खो जाते हैं, तभी दूत आता है]

दूत : महाराज की जय हो ! महाराज ! मुगल बादशाह के सैनिक कहते हैं कि हमें……

प्रवीणराय : (बात काटकर) हाँ, हाँ, मैं चल रही हूँ। अच्छा महाराज तो फिर आज्ञा दीजिये। यदि सम्भव हुआ तो सशरीर ओरछा में, अन्यथा फिर स्वर्ग में दासी आपके चरण-कमलों के दर्शनों की प्रतीक्षा करेगी। जाती हूँ। आपकी जय हो !

[प्रवीणराय जाती है। इन्द्रजीत चित्रलिखित से खड़े रह जाते हैं। दृश्य परिवर्तन]

द्वितीय दृश्य

[आगरा के राजमहल में सम्राट् अकबर एकाकी बैठे दिखलाई देते हैं।]

दूत : **(आकर)** शाहंशाह की जय हो ! महाराज ओरछा-राज्य से आपकी बुलाई हुई प्रवीणराय नाम की सुन्दरी राजद्वार पर उपस्थित है।

सम्राट् : आने दो।

दूत : जो आज्ञा। **(आदाब बजाकर जाता है, कुछ ही देर में प्रवीणराय आती हैं।)**

प्रवीणराय : भारत सम्राट् की जय हो। शाहंशाह, मैं बुंदेल-खण्ड केहरी महाराज इन्द्रजीतसिंह की सेविका प्रवीणराय ओरछा-राज्य की मैत्री के प्रतीक रूप आपकी सेवार्थ यहाँ उपस्थित हुई हूँ।

सम्राट् : **(ऊपर से नीचे तक देखकर)** हम ओरछा राज्य की इस अमूल्य भेंट को सादर स्वीकार करते हैं। प्रवीणराय ! तुम नहीं जानतीं, जिस दिन किसी ने हमें ओरछा के राजकवि केशवदास का यह दोहा सुनाया था कि—

रतनाकर लालित सदा, परमानन्दहि लीन।
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि रायप्रवीन ॥

उसी दिन से हम तुमसे मिलने को मन ही मन कितने बेताब हो उठे थे। तुम वाकई रमा हो,

साक्षात लक्ष्मी। हमें खुशी है कि चाहे देर में ही सही पर आज लक्ष्मी अपने सही स्थान पर आ तो गई। सुन्दरी, हम तुम्हारा इस आगरा के राज-महल और उसके साथ-साथ अपने हृदय मन्दिर में भी स्वागत करते हैं, आओ विराजो। **(पास की चौकी पर बैठने को इंगित करते हैं)** यहाँ तुम्हें कोई कष्ट न होगा। कोई तुम्हारी ओर आँख भी न उठा सकेगा।

प्रवीणराय : **(बैठते हुए)** आपकी इस प्रशंसा, स्वागत और आश्वासनों के लिये मैं आपकी आभारी हूँ। शाहंशाह ! ये आपकी कृपा है कि सौंदर्य के इस बेढ़ब बोझ को ढोते-ढोते भी मैं आज तक जी रही हूँ। मैं सच कहती हूँ सम्राट् यदि आपका डर न होता तो न जाने कौन मेरी क्या दशा कर डालता। यह आपका ही आतंक है, जिससे मैं सुरक्षित यहाँ तक आ सकी हूँ।

सम्राट् : सौन्दर्य तो भगवान् की देन है सुन्दरी, इसे बोझ मत कहो। जिस भगवान् ने तुम्हें ये रूप दिया है, तुम्हें उसका आभार मानना चाहिए। संसार की इस कुरूपता में कहीं-कहीं बिखरे हुए सौन्दर्य ने ही इस संसार को जीने लायक बना रखा है। परन्तु हम तुम्हारा पूरा आशय नहीं समझ पाये। तुम्हें जो कहना है उसे स्पष्ट रूप से कहो।

प्रवीणराय : शाहंशाह, आशय तो स्पष्ट ही है, परन्तु फिर भी आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हूँ, सुनिये—

अंग अनंग तहीं कुच संभु, सुकेहरि-लंक गयंदहि घेरे।
भौंह कमान तहीं मृग-लोचन, खंजन क्यों न चुगै तिल तेरे॥
हैं कचराहु तहीं उदै इन्दु, सुकीर के बिम्बन चोंचन मेरे।
कोऊ न काहू सों रोस करै, सुडरै डर शाह अकब्बर तेरे॥

इसलिये आलीजाह, हमारे सौन्दर्य की सुरक्षा तो आप पर ही निर्भर है। जब तक आप अनुकूल हैं, बस तभी तक यह सौन्दर्य इस रूप में टिका है।

सम्राट् : रमणी ! तुम अद्वितीय सुन्दरी ही नहीं विदुषी भी हो। 'रायप्रवीन कि सारदा सुचि रुचि राजत अंग' वाली बात केशव कवि ने झूँठ नहीं कही है। मगर तुम ये क्यों समझती हो कि हम तुम पर अनुकूल नहीं। सुन्दरी, हमने तुम्हें सिर्फ आगरा के राजमहल को सजाने भर के लिये ही नहीं वरन् अपने दिल के अन्दर छिपा कर रखने के लिये भी बुलाया है।

प्रवीणराय : यही तो आपकी प्रतिकूलता है, सम्राट् ! कहाँ आप कुलीन मुगलवंश की ध्वजा और कहाँ वेश्या के घर जन्मी मैं पतिता नारी। कहाँ भारत के एक मात्र अधिपति जहाँपनाह और कहाँ मैं इन्द्रजीत सिंह की एक साधारण

निंद्य दासी ! सम्राट् ! आप न्याय-दण्ड के धारणकर्त्ता हैं, ऐसा कहने से पहले आपको यह भी सोच लेना पड़ेगा। अयोग्य को बरबस योग्य नहीं बनाया जा सकता।

सम्राट् : तुम्हारी बातों में कुछ तथ्य हो सकता है, सुन्दरी ! मगर हम शाहंशाह होते हुए भी मनुष्य हैं। हमारे भी दिल है, जिसमें कुछ दर्द है। हम भी प्रेम करना जानते हैं। क्या तुम नहीं जानतीं प्रेम अन्धा होता है ?

प्रवीणराय : खूब जानती हूँ, सम्राट् ! परन्तु प्रेम और विरोध भी सदा समान से ही हुआ करता है, आली-जाह ! इस पर भी, आप तो पहले सम्राट् हैं, और बाद में कुछ और। प्रेम आपके साथ वहीं तक चल सकता है जहाँ तक वह राजतन्त्र के विधि-वत् संचालन में बाधा न दे। आप तनिक सोचिये आलमगीर, आप भगवान् राम की भारत-भूमि के सम्राट् हैं ; जिन्होंने तनिक से अपवाद के भय मात्र से सती सीता को छोड़ दिया था। आप इस देश की परम्परा को त्याग कर कैसे अपने सुशासन के उद्देश्य में सफल होंगे। शाहं-शाह ! मैं अपने कारण आपको पथ-भ्रष्ट नहीं होने दूँगी। मैं आपके हित के लिए अपना जीवन तक त्याग दूँगी, परन्तु मैं ये नहीं चाहती सम्राट् ! कि लोग मुझे लेकर मन ही मन आपकी चबाई

करें और आपकी प्रतिष्ठा को आघात पहुँचे। भारत सम्राट् की प्रतिष्ठा पर यदि मेरे कारण इस प्रकार की आँच आये तो इससे पहले मेरा मर जाना ही श्रेयष्कर होगा, महाराज !

सम्राट् : तुम्हारी बातें वजनदार हैं। मगर क्या करें सुन्दरी, इस समय हम अपने दिल से मजबूर हैं।

प्रवीणराय : जहाँपनाह, मैं एक तुच्छ बुद्धि नारी हूँ। मैं आपको कोई उपदेश नहीं दे सकती। परन्तु आप इस भारत देश की पूरी जनता के राजा हैं। हमारे पिता हैं, और इसी नाते अपनी बात आपसे कहने का मुझे हक है। उसी हक से मैं आपसे प्रार्थना करना चाहती हूँ, आप इस पर ध्यान दीजिये—

बिनती रायप्रवीण की, सुनिये शाह सुजान।
जूठी पतरी भखत है, बारी वायस, स्वान ॥

सम्राट् : (**बड़बड़ाते हैं**) क्या कहा ? बारी, वायस, स्वान (**त्यौरी चढ़ जाती है, एक दम घंटा बजाते हैं, दूत आता है**)

दूत : शाहंशाह की जय हो !

सम्राट् : दूत ! तुम अपने साथ प्रवीणराय को ले जाओ। इसके तुरन्त ओरछा लौटाने का प्रबन्ध कर दिया जाय। जाओ। ले जाओ।

प्रवीणराय : मेरी अविनय के लिए क्षमा करें सम्राट् ! मेरा रोम-रोम आपकी इस कृपा के लिए आभारी है।

सम्राट् : ठीक है। तुमको यहाँ बुलाना ही एक गलती थी। तुम जा सकती हो। अब हमें तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं रही।

प्रवीणराय : सम्राट् की जय हो! **आदाब करती हुई दूत के साथ जाती है।)**

तृतीय दृश्य

[बुंदेलखण्ड के एक उद्यान में चन्द्रमा चमक रहा है। वृक्षों के पल्लव आनन्द से वायु के झोंकों के झोंटों में मन्दगति से झूल रहे हैं। पक्षी भी कभी-कभी चहक उठते हैं, प्रवीणराय प्रसन्न मुद्रा में आती हैं]

प्रवीणराय : मेरे प्यारे बुन्देलखण्ड! तेरी पावन प्रकृति की शीतल गोद में फिर से खुल खेलने का मुझे सौभाग्य मिला यह तेरी अनुकम्पा है। आगरा की अस्वाभाविक कृत्रिमता से तेरी नैसर्गिक सुषमा कितनी महान् है।

इन्द्रजीत : (**आकर**) प्रवीणे! यहाँ एकान्त उद्यान में क्या कविता सी गुनगुना रही हो?

प्रवीणराय : महाराज की जय हो! मैं यही सोच रही थी महाराज, कि आज आगरा से लौटने पर मुझे बेतवा के कलकल में संगीत की जो दिव्य स्वर-

लहरी सुनाई पड़ रही है, और निर्भरों की भर-भर में जो रस, पक्षियों की चहचहाट में जैसा जीवन प्रतीत हो रहा है और चन्द्रमा की किरणों से जितनी शान्ति प्राप्त हो रही है उतनी इससे पहले कभी नहीं हुई। शायद स्वर्गा-रोहण पर कौरवों को नन्दन कानन उतना आकर्षक न लगा होगा, जितना महाराज युधि-ष्ठिर को।

इन्द्रजीत : क्यों, ऐसा तुम क्यों सोचती हो प्रवीणे ?

प्रवीणराय : इसीलिये महाराज, कि महाराज युधिष्ठिर पहले नरक की यातना का आभास पाकर बाद में स्वर्ग पहुँचे थे जबकि कौरव लोग पहले सीधे ही स्वर्ग पहुँच गये थे।

इन्द्रजीत : प्रिये ! अब छोड़ो उस अप्रिय प्रसंग को। आओ इस शरद्-चन्द्रिका में कुछ रस-विहार का आनन्द ले लिया जाय।

प्रवीणराय : ठीक है महाराज, परन्तु ये चन्द्रमा तो आज बड़े वेग से अपने रथ को हाँकता सा लग रहा है। क्या ये सुखद यामिनी जल्दी ही बीत जायेगी ?

इन्द्रजीत : लगता है कि हमारे सौभाग्य पर ईर्ष्यालु और तुम्हारे मुख सौन्दर्य से लज्जित हुआ ये चन्द्रमा मुँह छिपाकर जल्दी ही भाग जाना चाहता है।

प्रवीणराय : (**चन्द्रमा पर दृष्टि डालकर**) परन्तु इसे ऐसा

करना नहीं चाहिए महाराज—

कूर कुरकुट कोटि कोठरी निबारि राखौं,
चुनि दै चिरैयन को मूँदि राखौं जलियो।
सारंग में सारंग सुनाइ के 'प्रवीन' बीना,
सारंग दै सारंग की जोति करौं थलियो।
बैठ परियंक पै निसंक ह्वै कै अंक भरौं,
करौंगी अधर पान मैंन मत्त मिलियो।
मोहि मिले इन्द्रजीत धीरज नरिन्द्रराय,
एहो चन्द आज नेंकु मन्द गति चलियो।

दूत : **(एक दम आकर)** महाराज की जय हो !

इन्द्रजीत : क्यों क्या बात है ? इस असमय में यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?

दूत : (गिड़गिड़ाकर) महाराज राजकवि केशवदास जी की आज्ञा थी कि ये पत्र आपको अभी, आप जहाँ भी हों वहीं पहुँचाया जाय। अप-राध क्षमा हो, देव।

इन्द्रजीत : अच्छा **(पत्र खोलते हैं, पढ़ते-पढ़ते प्रसन्न हो कर)**

इन्द्रजीत : अकबर ने राजा बीरबल के समझाने से हमारा एक करोड़ का जुर्माना माफ कर दिया। निश्चय ही ये शुभ संवाद है। **(दूत को गले की माला उतार कर देते हुए)** तुम शुभ समाचार लाये हो दूत ! लो अपना पुरस्कार।

दूत : महाराजाधिराज की जय हो ! **(पुरस्कार लेता**

है और जाने लगता है)

इन्द्रजीत : और सुनो, आचार्य केशव से कहो कि राजा बीरबल द्वारा उन्होंने इस सम्बन्ध में जो उद्योग कराया है उसके लिए हम उनके आभारी हैं। हम स्वयं इस सम्न्बध में राजा बीरबल को भी लिखेंगे।

दूत : जो आज्ञा। महाराज की जय हो ! **(जाता है)**

इन्द्रजीत : प्रवीणे ! आज का दिन कितना शुभ है।

प्रवीण : बहुत ही शुभ है महाराज।

इन्द्रजीत : आओ तो अब नौका-विहार को चलें।

प्रवीण : जैसी महाराज की इच्छा।

[दोनों जाते हैं। समाप्त।]

: ७ :

परीक्षा

ग्वालजी : एक परिचय—यह खेद की बात है कि ग्वालजी का अधिकांश साहित्य अभी प्रकाश में नहीं आ पाया है और इसी कारण साहित्य में उसका उचित मूल्यांकन भी नहीं हो सका है, परन्तु हमारा विश्वास है कि जिस दिन ग्वालजी के ग्रंथ-रत्न साहित्य-पारखियों के सामने आ जायेंगे, उस दिन सभी को यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा कि कम से कम उनकी टक्कर का महाकवि रीति युग के, उत्तरार्द्ध में कोई हुआ ही नहीं। ग्वालजी केवल कवि ही नहीं रस, ध्वनि अलंकार, छंद आदि सभी काव्यांगों के आचार्य थे और साथ ही साथ उन्हें पर्यटनों के परिणामस्वरूप जीवन की प्रत्येक स्थिति का स्वयंभूत अनुभव था।

ग्वालजी का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला २ सम्वत् १८४८ में वृन्दावन के एक निर्धन ब्रह्मभट्ट परिवार में हुआ था।

"विदित विप्रबन्दी बिसद, बरने व्यास पुरान।
ता कुल सेवाराम कौ, सुत कवि ग्वाल सुजान॥"

उक्त दोहे में स्वयं ग्वालजी ने अपने पिता का नाम सेवाराम लिखा है, इसलिये कुछ व्यक्ति जो उन्हें मुरलीधर का पुत्र कहते हैं, हमारी समझ से भ्रम में हैं। दुर्भाग्य से ग्वालजी के पिता इन्हें छोटा छोड़-कर ही स्वर्गवासी हो गये, इसलिये इनके पालन का भार इनकी निर्धन वृद्धा माता पर आ पड़ा जो वृन्दावन के कोरिया घाट पर अपने पूर्वजों की हवेली में रहती थीं। यह हवेली आज भी विद्यमान है।

बचपन में ग्वालजी राधारमणजी के गोस्वामी व अपने समय के विद्वान् कवि वृन्दावन-निवासी गोस्वामी दयानिधिजी के पास अध्ययन को भेजे गये, परन्तु वहाँ एक दूसरे कवि हरदेवजी की प्रतिद्वंदिता के

कारण वे जम न सके और एक दिन गुरुजी ने उन्हें पाठशाला से निकाल दिया। अन्त में ये अपनी माता के साथ अपनी ननसाल में काशी जा पहुँचे और वहाँ काव्यांगों का विधिवत अध्ययन किया। काशी से अध्ययन समाप्त करके ये मथुरा आये और वहाँ दण्डी स्वामी विरजानन्दजी सरस्वती से—जो महर्षि दयानन्दजी के भी गुरु थे—अपने अध्ययन में और पूर्णता प्राप्त की। इस सब प्रसंग का पूरा उल्लेख एकांकी में आगे हुआ है, अतः उसे यहाँ लिखना उचित प्रतीत नहीं होता।

अध्ययन समाप्त करके ग्वालजी देशाटन को निकल पड़े, और कुछ ही समय में इन्होंने यथेष्ट धन और यश अर्जित किया। जिस राज-दरबार में भी ग्वालजी गये वहीं इनका खूब सत्कार हुआ। कहा जाता है कि ग्वालजी को भगवती सिद्ध थी जो स्वयं इनकी जिभ्या पर विराजकर काव्य-रचना करती थी। स्वयं ग्वालजी ने भी अपनी 'जमुना-लहरी' में इस सम्बन्ध में लिखा है—

बासी वृन्दाविपिन के, श्री मथुरा सुखबास।
श्री जगदम्ब दयी हमें, कविता विमल विकास॥

सब दरबारों में घूमते हुए ग्वालजी पंजाब पहुँचे। वहाँ पंजाब-केशरी महाराज रणजीतसिंहजी ने इनका बड़ा स्वागत किया और अपना राजकवि बनाया। महाराज रणजीतसिंहजी की मृत्यु पर ग्वालजी ने एक छन्द में लिखा था—

"एक काने के मरे ते, सब जगत तीन काने हैं।"

रणजीतसिंह जी के उपरान्त भी ये महाराजा खड़गसिंह, नौनिहालसिंह और शेरसिंह जी के दरबार में रहे परन्तु पंजाब का अंगरेजों द्वारा पराभव हो जाने के उपरान्त ये सुकेत आदि पहाड़ी रियासतों में चले गये, किन्तु उन छोटे राज्यों में इनका मन नहीं रमा। तब ये मथुरा लौट आये और वहीं 'चूना-कंकड़' मुहल्ले में एक पक्की हवेली बनवा कर रहने लगे। यहीं इन्होंने एक शिवालय भी स्थापित किया जो हवेली के पार्श्व में आज भी स्थित है और उस पर यह दोहा खुदा है—

"उनइस सत इकबीस घर, सिवरात्री भृगुवार।
पधराये प्रभु 'ग्वाल कवि', गवरि-संभु सुखसार॥"

जब ग्वाल जी मथुरा में रहते थे तब बाल्यकाल में मथुरा के प्रसिद्ध कवि नवनीत जी को उनके दर्शनों का सौभाग्य हुआ था। उनके पास ग्वाल जी का राजसी ठाठ में एक चित्र भी था, जो अब उनके सुपुत्र श्री गोविन्द जी चतुर्वेदी के पास है। नवनीत जी ने बहुत वर्ष हुए 'विशाल भारत' में ग्वाल जी के सम्बन्ध में एक जानकारी से भरपूर लेख लिखा था, जिसमें वे लिखते हैं—

"उनका कद नाटा, वर्ण श्याम और स्वरूप बड़ा ही भव्य था। वे शरीर पर बढ़िया अँगरखा, सिर पर पीली पाग, कन्धे पर बनारसी सेला या दुशाला और मस्तक पर केसरिया अर्द्धचन्द्र धारण करते थे। उनका कवित्त पढ़ने का ढंग बहुत ही आकर्षक और प्रभावोत्पादक था। वे राजसी ठाठ से रहते थे और प्रायः सब्जी रंग की घोड़ी या तामझाम में बैठ कर घर से बाहर निकलते थे।"

मथुरा में रहते हुए भी अनेक राज-दरबारों से उनका सम्बन्ध रहा, यहाँ तक कि जब संवत् १६२२ में रामपुर की गद्दी पर नबाब कल्बे अली खाँ बैठे तो उन्होंने बड़े आग्रह के साथ ग्वाल जी को रामपुर बुला भेजा। पहले तो ग्वाल जी ने उन्हें टाला परन्तु अन्त में प्रेम के बंधन में बँधकर उन्हें वहाँ पहुँचना ही पड़ा, किन्तु वे रामपुर में केवल १ वर्ष ६ महीना ही रह पाये और १६ अगस्त १८६७ ई० में उनकी मृत्यु हो गयी।

ग्वाल जी के बाद उनकी एक मात्र विधवा पुत्र-वधू की बड़ी दुर्दशा हुई जो मथुरा में रहा करती थी। ग्वाल जी ने अपने एक मित्र नाथू शाह को जो कोटा से आकर मथुरा में बसा था, अपनी अनुपस्थिति में अपनी समस्त सम्पत्ति और घर की देख-रेख सौंप दी थी। ग्वाल जी के जीवन-काल तक तो उसने खूब मित्रता निभायी परन्तु उनकी आँख मिचते ही इस विश्वासघाती ने भी अपनी आँखें बदल लीं। वह ग्वाल जी की सब सम्पत्ति को तो हड़प ही गया साथ ही साथ उसने ग्वाल जी की हवेली

से भी उनकी पुत्र-वधू को निकालना चाहा। षड्यन्त्र करके उसने ग्वाल जी की हवेली में आग लगवादी जिसमें अन्य वस्तुओं के साथ ग्वाल जी द्वारा बड़े परिश्रम से एकत्रित एवं स्वरचित न जाने कितने हस्त-लिखित ग्रन्थों का बृहत् पुस्तकालय भी जल गया। कुछ व्यक्तियों का अनुमान है कि ग्वाल जी की पुत्र-वधू भी इसी अग्नि में जल गई। ग्वाल जी के एक शिष्य 'सुखदेव घटबारे' जलती आग में कूद कर केवल ग्वाल जी के ३-४ ग्रन्थ ही उन लपटों से निकाल सके जो अब स्वर्गीय नवनीत जी के सुपुत्र गोविन्द जी के पास हैं। इस प्रकार ग्वाल जी ने जो प्रभूत सम्पत्ति अर्जित की वो उनके साथ ही समाप्त हो गयी। ग्वाल जी के सम्बन्ध में ब्रज में अनेक रोचक संस्मरण हमने सुने हैं जिन्हें स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दे पा रहे हैं।[1]

ग्वाल जी ने अपने जीवन-काल में कितने ग्रन्थ लिखे ठीक नहीं कहा जा सकता। उनके संग्रहालय में लगाई गई आग में उनके कितने ग्रन्थ जल गये इसका भी क्या अनुमान? फिर भी अब तक उनके छोटे-बड़े १३ ग्रन्थ—जमुना लहरी, रसिकानंद, हमीरहठ, राधा-माधव-मिलन, श्रीकृष्णजू कौ नख-शिख, कवि-दर्पण, रसरंग, साहित्यानंद, अलंकार-भ्रम-भंजन, प्रस्तार-प्रकाश, नेह-निवास, भक्त मनभावन और कवि हृदय-विनोद की प्रतियाँ यत्र-तत्र बिखरी सुनी गयी हैं।

इधर 'पूर्वी पटियाला रियासती संघ' का गुरुमुखी लिपि में लिखित हिन्दी-ग्रन्थों का जो विपुल संग्रह हाल में ही सामने आया है, उसमें भी ग्वाल जी के कुछ नवीन ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, ऐसा सुना गया है।

ग्वाल जी के इस मूल्यवान साहित्य के संग्रह व प्रकाशन की अत्यंत आवश्यकता है। ग्वाल जी के बहुत से स्फुट छंद तो केवल काव्य-रसज्ञों की जिह्वा पर ही विचर रहे हैं, जो धीरे-धीरे काल के प्रभाव से उन व्यक्तियों के ही साथ अलोप होते जा रहे हैं जिनको वे कंठस्थ हैं।

---

[1] कुछ संस्मरणों के लिए देखिए दैनिक 'हिन्दुस्तान', दिल्ली के ८ फरवरी सन् १९५३ में प्रकाशित हमारा 'महाकवि ग्वाल के कुछ संस्मरण' लेख।

ग्वाल जी के जीवन की तीन झाँकियाँ—

पात्र-परिचय

ग्वाल जी : रीति युग के प्रसिद्ध हिंदी कवि।

दयानिधि : वृन्दावन के गोस्वामी व ग्वाल जी के गुरु।

हरदेव : ग्वाल जी के प्रतिद्वंदी और सहपाठी, वृन्दावन के कवि।

महाराज रणजीतसिंह : प्रसिद्ध सिक्ख नरेश, ग्वाल जी के आश्रयदाता।

शेरसिंह : महाराज रणजीतसिंह के परवर्ती पंजाब-नरेश।

[सेनापति, सैनिक आदि]

पहला दृश्य

[वृन्दावन में राधारमण जी के घेरे में बगलबंदी धारण किए हुए एक छोटे से कक्ष में गोस्वामी दयानिधि जी एक ऊँची चौकी पर तकिया के सहारे बिराजमान हैं, हाथ में सुमिरनी है। सामने भूमि पर तीन-चार विद्यार्थी बैठे अलंकारों के लक्षण उदाहरण रट रहे हैं, तभी हरदेव जी आते हैं। अवस्था लगभग २० वर्ष की है। मलमल का कुर्त्ता, गले में सोने की जंजीर और दुपल्ली टोपी पहने हैं। हाथ में मिठाई की टोकरी है।]

हरदेव : गुरु जी दण्डौत !

दयानिधि : आज तौ बड़ी देर कर दयी बेटा हरदेव। कहाँ रहि गयौ ?

हरदेव : **(टोकनी आगे रखकर)** महाराज, आज घर पै कथा ई, जाते बिलंब है गयौ, अपराध छमा होय।

दयानिधि : **(टोकरी की ओर देखते हुए)** कोई बात नायें बेटा, पर कल्ल तोय विभावना अलंकार के जो लक्षण समझाये एं बिनके आधार पै आज एक छंद लिखकै हमें दिखाय।

हरदेव : जो आज्ञा।

[हरदेव बैठ जाते हैं और कुछ लिखने लगते हैं। ग्वाल जी आते हैं, वस्त्र फट रहे हैं और कुछ अव्यवस्थित से हैं।

वय हरदेव जितनी ही है। उन्हें आते देखकर दयानिधि जी का माथा चढ़ जाता है और वे उनकी ओर घूरते हैं।]

ग्वाल : गुरु जी दण्डौत।

दयानिधि : (**क्रोध से**) चौं रे ग्वाल, अब ये बखत भयौ ऐ तेरौ पाठशाला आयबे कौ। बाप कहा मरि गयौ कै तेरौ कोई रोका बरजाही नायें।

ग्वाल : अपराध छमा करौ गुरुदेव! आज जमुना पै कपड़ा धोयबे में बिलंब है गयौ। कोई दूसरौ कुर्त्ता हत नाओ। जब ये सूख गयौ सोई पैहर कै सीधौ चलौ आय रह्यौ ऊँ।

दयानिधि : तौ फिर एक ही काम है सकै है ग्वाल! कै तौ पढ़ही लै, कै कपड़ा धोय लै। इन सड़े से कपड़ान ने पहर कै चलौ आवै। तैने तौ मेरी पाठ-शालाऊ डोब दयी। देख जि हरदेवऊ तौ ऐ। कैसे सलीका ते रहै।

ग्वाल : गुरुदेव! कहाँ मैं एक निर्धन विधवा मैया कौ पूत और कहाँ सेठ हरदेव। जो आज मेरे पिता सेवाराम जी जीवित होते तौ मैंऊँ ऐसेई चिलकने वस्त्र पहरतौ।

हरदेव : तौ का हमने मार डारौ तेरौ पिता, तू हमते चौं कुढ़ै है?

ग्वाल : भैया हरदेव, रिस मति होय। ये संसार तौ खेल ही धूप-छाँह कौ ऐ। हमेशा एकसे दिन काहू कै नायँ होंय। आज तू समर्थ है तौ गुरु जी तोते

प्रसन्न ऐं। काऊ दिन जो मैं कछू लायक भयौ तौ मैंऊ गुरु जी की ऐसी सेवा करूँगो जो तो माऊँ म्हौंऊ न करें।

दयानिधि : या कौ मतलब ये कै हम लालची ऐं। चौं रे ग्वाल, ये हरदेव हमें का दै कै भूल गयौ ऐ और तेरी बा मैया ने ई हमें कौन सी नौली परखाई ऐ।

हरदेव : गुरु जी ऐ तू लांच्छित करनौ चाहै।

ग्वाल : हरे......हरे, गुरु जी......

दयानिधि : गुरु जी कौ बच्चा **(लपक कर ग्वाल को पकड़ते और धक्का देते हुए)** निकर जा मेरी पाठशाला ते। अब कछू लायक बनकैई दिखइयौ जा लिलारऐ। चल निकर यहाँ ते नालायक।

ग्वाल : जैसी आपकी आज्ञा, प्रनाम।

[चरण छूते हैं। दयानिधि तिरस्कार भरी दृष्टि से घूरते रहते हैं, कोई उत्तर नहीं देते, पर्दा गिर जाता है।]

दूसरा दृश्य

[दयानिधि जी की पाठशाला का वही कक्ष, केवल हरदेव और दयानिधि विराजमान हैं। परस्पर वार्त्तालाप चल रहा है।]

दयानिधि : बेटा हरदेव !

हरदेव : हाँ गुरू जी !

दयानिधि : बेटा, अब तू रस, अलंकार और नायिका भेद कौ पंडित है चुक्यौ। हम तोते अत्यन्त प्रसन्न हैं। अब काव्य-रचना मेंऊ तेरी अच्छी गति है गयी। जाते आज हमें 'मुदिता नायिका' कौ एक वर्णन करिकै सुना।

हरदेव : जो आज्ञा। (**कागज पर पेंसिल से छन्द लिखने का उपक्रम करते हैं, दयानिधि कुछ विचारमग्न प्रतीत होते हैं। कुछ ही समय में हरदेव छन्द लिख लेते हैं।**) गुरु जी मेरौ छन्द तैयारै। आज्ञा होय तौ निवेदित करूँ।

दयानिधि : अवश्य।

हरदेव :

गंग नहावन कों नर-नारि, चले हैं अरौस-परौस के दोऊ।
दासी और दास जिते 'हरदेव जू' रोकिए ताहि रुकै नहि कोऊ॥
सास कही सुनरी दुलही, घर तू रहि और रहे ननदोऊ।
यों सुनिकें उँमग्यौ अनुराग, समात न कुंचकी में कुच दोऊ॥

दयानिधि : (**छन्द सुनकर हँसते हुए**) बाह ! हरदेव तुम्हारी रचना प्रसाद गुण ते युक्त बड़ी सरस ऐ और कवित्त के संग ई संग कहानी गढ़िबौ ऊ सीख गये तुम तौ बेटा। तू मेरी या पाठशाला की शोभा ऐ।

हरदेव : गुरु जी, आपकी पाठशाला की शोभा तौ दुगनी

होती, जो कहूँ ग्वाल हू और होते। सुनी है कै ग्वाल जी तौ आपकी पाठशाला ते निकसि कै जायबे के पीछें कासी जी पढ़िबे गये हे और म्हाँ उनने पूरे 'काव्य-दर्पण' को अध्ययन कर लियौ है। जाके पीछें ग्वाल मथुरा आये और स्वामी बिरजानंद जी सरस्वती जी ते प्रार्थना करी के मेरी परीक्षा लेउ।

दयानिधि : तौ का स्वामी जी ने ग्वाल कू 'काव्य-शास्त्र' कौ पंडित मान लियौ।

हरदेव : अभी तौ नाँय मानौ, गुरुदेव पर अब वो दिन ऊ दूर नायें। स्वामी बिरजानन्द जी ने ग्वाल जी की परीक्षा लैकैं कही—"ग्वाल ! तुम काव्य-शास्त्र के पण्डित है तौ गये पर एक कसर ऐ। अबई तुमने 'काव्य-शास्त्र' कौ आदि ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' नाँय पढ़ौ।" बस्स बाई दिना ते ग्वाल जी ने रात दिना एक करिकैं स्वामी जी ते 'काव्य-प्रकाश' पढ़नौं आरम्भ कर दियौ ऐ।

दयानिधि : चलौ कहूँ पढ़ौ सही, ग्वाल हू है तौ हमारौ ई।

[ग्वाल जी आते हैं। अवस्था पहले से अधिक है।]

ग्वाल जी : गुरु जी, दण्डौत।

दयानिधि : (**चौंककर**) कौंन है, अरे ग्वाल, आ बेटा, जुग-जुग जियौ, आज तौ बर्सन में तेरी सूरत देखी ऐ, कहि आनन्द ते तौ है।

ग्वाल : आपकी चरण-रज की कृपा ते आनन्द ही आनन्द

है गुरु जी महाराज ! आज ये सेवक आपकी सेवा में एक प्रार्थना कर्यौ चाहै ।

दयानिधि : कहि बेटा, मैं तेरौ कहा प्रिय कर सकूँ हूँ ।

ग्वाल : गुरुदेव ! आपकी पाठशाला ने दो नये कवि या देस कूँ दिये ऐं । एक हैं आपके प्रिय शिष्य भैया हरदेव और दूसरौ ऊँ आपकौ सदाँ-सदाँ कौ कोप-भाजन मैं, अधम ग्वाल । अब हम दोनों ई अपनी सिच्छा पूरी करि चुके हैं या ते जाके पहलें कै हम जीवन में उतरें आपते ये ही प्रार्थना ऐ, कै आप हम दोऊन की संग-संग परीच्छा लैकें जि निर्णय करदेउ कै कौन कित्ते पानी में हैं ।

दयानिधि : तेरौ ये आग्रह व्यर्थ ऐ ग्वाल । मैं कहा स्वयं संसार दो दिन आगें या कौ स्वयं निर्णय करि देगौ । मेरे लियें तौ तुम दोनों एक समान औ ।

ग्वाल : मोय टालौ मति कृपानिधान । संसार में गुन-ग्राहक हैं ही कित्ते । मोय संसार के निर्णय ते नहीं, आपके निर्णय ते ई संतोष होयगौ ।

हरदेव : (**कटाक्ष से**) गुरु जी ! ग्वाल अब कासी और मथुरा पढ़िकैं स्यात् मोय हेय समझ रहे ऐं । या ते इनके या भ्रम कौ निराकरण तौ हौनों ई चाहियें । मेरी ऊ जिई प्रार्थना ऐ कै आप हमारी परीक्षा लैके इनको बहम निकासि देउ, प्रभो !

दयानिधि : (**गम्भीरता से**) हूँ ! तौ तुम दोनों ही या हट पै अड़े औ। मैं सोचतौ के एक ही हथेरी की दो उँगरीन में कौन बड़ी कौन छोटी, पर जो तुम दोनोंन कौ ये ही हट है तौ फिर देउ परीक्षा। देखौ ये साँझ कौ समै है। या समै प्रिया-प्रियतम के श्रम और स्वेद कौ वर्णन करि कै दोनों सुनाऔ।

दोनों : जो आज्ञा। (**कागज निकालकर छन्द लिखने लग जाते हैं**)

हरदेव : (**कुछ समय बाद**) गुरू जी, मेरौ छन्द तैयार ऐ। आज्ञा होय तौ पढ़ूँ।

ग्वाल : और मैं ऊ तैयार ऊँ, गुरु जी !

दयानिधि : ठीक ऐ। तौ पहलें हरदेव अपनौ छन्द पढ़ै।

हरदेव : जो आज्ञा—

इत बेटी वृषभानु की, उत नन्द महर को स्याम।
राजत मेरु सुमेरु सौ, बरसानों नँदगाम॥
इत आपने म्हैल पै प्यारी चढ़ी, उत आपने म्हैल चढ़े जसुधा के।
दृष्टि सों दृष्टि भई मिल यों, नभते उमड़े मनों मेह मुदा के॥
सोह रहे कवि यों 'हरदेव जू', सज्जित साज सबै बसुधा के।
हैं मुख पै श्रम के किनुका मनों चन्द के मण्डल बिन्दु सुधा के॥

दयानिधि : बाह बेटा हरदेव। प्रिया प्रियतम के महल पै चढ़िबे ते भये श्रम स्वेद कौ तेरौ वर्णन बड़ौ भावमय है। धन्य है तोकू।

ग्वाल : पर गुरु जी, प्रिया-प्रियतम ही कहा, राजमहलन

की सीढ़ीन पै चढ़ते-चढ़ते कोई साधारण व्यक्ति हू श्रम सीकरन ते श्रमित हो सकै है। या छंद ते प्रिया-प्रियतम के अनन्य प्रेम की परिपुष्टि तौ न भयो।

दयानिधि : **(कुछ झुँझलाकर)** तौ तू कर अब बाकी परिपुष्टि।

ग्वाल : **(शांत भाव से)** जो आज्ञा, तौ सुनौ महाराज—

गोरी गोरी ग्वालिन की रूप गुन गरबीली,
अति चमकीली नहीं अँग बगराये हैं।
महकें महल जाकी गन्ध की सुगन्धि ही ते,
जानि कै सुमन, भौंर-भोंर दौरि आये हैं॥
'ग्वाल कवि' लाल जू सुनत बोल लोल भये,
मुख पै अनेक बारि श्रम-कन छाये हैं।
मानों कामदेव एक बिकसे कमल पर,
मुकता अमल दल-दल पै जमाये हैं॥

हरदेव : वाह, धन्य है ग्वाल जी। आपकौ वर्णन अनुपम है। आपकौ छंद सचमुच मेरे छंद ते भौत आगे है।

दयानिधि : आज तैंने मेरी छाती गर्व ते फुलाय दयी ग्वाल, तू धन्य ऐ। मैं तोय आशीर्बाद दऊँ बेटा ग्वाल कै तेरौ यश दिग्दिगंतन में युग युग तक छायौ रहेगौ। सरस्वती मैया के वरद पूत! अब जा और अपने काव्य-कुसुमन ते ब्रजनागरी कौ श्रृंगार करि तथा अपने गेह के दरिद्र कू दूर

करि कै अपनी वृद्धा माता कू संतोष दै।

ग्वाल : जो आज्ञा। आज आपके आशीर्बाद ते मैंने अपनौ अब तक कौ सब श्रम भर पायौ गुरु जी।

दयानिधि : (**छाती से लगाकर**) बेटा ग्वाल, अब तू पिछली बातन कू भूल, होनहार पै काऊ को बस नहीं ऐ। हौनहार बस ही मैंने बा दिना तोय पाठ-शाला ते निकास दियौ हो। देख सुन—

कौन भौन, कौन ग्राम, कौन पुर कौन बन,
कौन ठौर, ताकौ नहि होत निरधार है।
कौन दिसा, कौन दसा, कौन सी अवस्था जा में,
कौन संग, ताकौ नहीं परत बिचार है॥
'दयानिधि' कौन सौ बरस कौन ऋतु में,
कौन मास, कौन पक्ष, कौन पुनि बार है।
कौन दिन, कौन जाम, कौन घड़ी, कौन पल,
कौन जानें, कौन कौ कहा धौं हौनहार है॥

या ते बेटा अब बीती बात कू भूल और अपने भविष्य कौ स्वर्ण अध्याय लिखि।

ग्वाल : आप कैसी बात करौ हौ गुरुजी। गुरु की तौ तासना ही बाकौ प्यार है। जो आप बा दिना मोय पाठशाला ते न निकारते तौ कौन जानें आज ग्वाल कहाँ होतौ। अच्छौ तौ अब आज्ञा देउ प्रभो, प्रनाम।

दयानिधि : यशस्वी और दीर्घ-जीबी होउ बेटा।

[**ग्वाल जी दयानिधि को प्रणाम करके तथा हरदेव जी से गले मिलकर बाहर चले जाते हैं। पर्दा गिरता है।**]

कटा की करतूत

[महाराजा रणजीत सिंह का दरबार। काबुल-विजय के उपलक्ष्य में आज विशेष हलचल है। सब दरबारी महाराजा को नजरें कर रहे हैं। महाराज प्रसन्न-मुद्रा में राजसिंहासन पर बैठे हैं।]

द्वारपाल : महाराज की जय हो! भारत का भ्रमण करते हुए महाकवि ग्वाल पधारे हैं। यदि महाराज आज्ञा दें तो वे दरबार में उपस्थित हों।

महाराज : आज तो हम से जो भी चाहे मिल सकता है। आज किसी की कोई रोक-टोक नहीं है दूत, फिर ग्वाल जी का नाम तो हम पहले सुन भी चुके हैं। कई राज-दरबारों में उनका सम्मान हुआ है। उन्हें आदर से ले आओ।

द्वारपाल : जो आज्ञा महाराज। **(जाता है और थोड़ी देर में ही राजसी वेश में सजे ग्वाल पधारते हैं।)**

ग्वाल : महाराजाधिराज की जय जयकार हो। काबुलीन पै आपकी विजय के उपलक्ष्य में मेरी बधाई व अभिनंदन स्वीकार होय।

रणजीतसिंह : विराजिये महाकवि। हम आपके आभारी हैं।

ग्वाल : पर महाराज आपकौ पौरुष तौ बड़ौ अनूठौ सुन्यौ है, जो आज्ञा होय तौ एक बात पूछूं?

मंडन मही के महाराजा रणजीतसिंह,
कृपा करि बताओ मोय बहम अकूत है।
झिलमिल के झल्ला, अल्ला-अल्ला कहि हल्ला करें,
तौऊ कटकल्ला गल्ला होत इक सूत है॥
'ग्वाल कवि' जंत्र है कि मंत्र है बसीकर कौ,
बर है गिरीस कौ, कि बस जमदूत है।
म्यान में, कि मूँठ में, कि तेग में, कि करही में,
कामें काबुलीन की कटा की करतूत है॥

[सब दरबार 'धन्य-धन्य' करके उछल पड़ता है। महाराज मुस्कराते हैं।]

महाराज : हमने तुम्हारा प्रश्न सुन लिया है कवि, परन्तु इसका उत्तर शब्दों में नहीं किसी उचित अवसर पर उचित पारितोषिक के रूप में दिया जायेगा। इस समय तो हमारा यह रत्नहार स्वीकार करो।

ग्वाल जी : महाराज की जय हो। (**हाथ बढ़ाकर हार लेते हैं**) आपके दान और गुण-ग्राहकता के लिये मैं आपकौ आभारी हूँ महाराज। अब मोय आज्ञा मिलै।

महाराज : कैसी आज्ञा ? कहाँ जाना चाहते हो कवि ? अब तुम कहीं नहीं जा सकते। हम तुम्हें इस दरबार का राजकवि नियुक्त करते हैं।

ग्वाल : परन्तु का मैं जा उत्तरदायित्व कूँ निभाय सकूँगौ महाराज ?

महाराज : कवि, तुम तो समर्थ हो, परन्तु जब अयोग्य कंधों पर भी कोई दायित्व डाल दिया जाता है तो सचाई से प्रयत्न करने पर वह भी उसे निभाता देखा गया है ।

ग्वाल : अपने प्रति आपके विश्वास और जा सम्मान के लियें मैं आपकौ ऋणी हूँ महाराज । आपकी जय होय ।

बकसीस

[स्थान—युद्ध-क्षेत्र। पृष्ठभूमि में रण-वाध्य बज रहे हैं। मारो-काटो की ध्वनि गूंज रही है। उसी समय दो सैनिक बातचीत करते हैं।]

पहला सैनिक : जब तक महाराज रणजीतसिंह जीवित रहे काबुलियों की हिम्मत नहीं थी कि पंजाब की ओर आँख भी उठायें, परन्तु महाराज की आँख मिचते ही इन्होंने फिर सिर उठाना शुरू कर दिया।

दूसरा सैनिक : पर यह सिर अब कुचला भी ऐसा जायेगा जो ये भी याद रक्खें। हमारे महाराजा शेरसिंह भी कुछ कम नहीं हैं, पूरा शेर जैसा ही दिल पाया है इन्होंने। जिधर महाराज की निगाह फिर जाती है, बिना तलवार चलाये ही शत्रु पहले से ही अधमरा हो जाता है।

[लड़ाई का शोर बढ़ता है। तोपों की गड़गड़ाहट हो रही है।]

पहला सैनिक : लो देखो अब अपना तोपखाना पूरे जोर से आग उगल रहा है। बस, शत्रु के पैर उखड़े ही समझो।

दूसरा सैनिक : तो चलो देखते क्या हो। हमें भी अब मोर्चे पर सावधान रहना है। लगता है कि उधर

से स्वयं महाराज भी इधर ही पधार रहे हैं।

पहला सैनिक : लो तो चलो फिर जल्दी।

[दोनों जाते हैं, महाराज शेरसिंह व प्रधान सेनापति का प्रवेश। तोपों की आवाज और बढ़ती है।]

शेरसिंह : सेनापति ! लगता है शत्रु के पाँव उखड़ रहे हैं। हमारी तोपों के गोले उनकी बखिया उधेड़ दे रहे हैं।

ग्वाल जी : (**आकर**) महाराज की जय हो। आज कौ युद्ध निर्णायक है महाराज आपकी सड़ड़्-सड़ड़् तोप करड़्-करड़् शत्रु सेना पै पड़-पड़ कै सबरे यमपुर कू पाटै दै रही हैं। धन्य ऐ आपकू और आपकी फौज कू—

फौजें महाराज शेर शेरसिंह जू की सर्जी,
घन गढ़रात, गड़गड़ गड़क्यौ करें।
पल्टन की पंगति ज्यों पलट न पेखे परें,
फेर फुरतीलें फड़ फड़ फड़क्यौ करें।
'ग्वाल कवि' कहै चलें तोप की तड़ाड़ें तेज।
सड़र सड़ारें सड़ सड़ सड़क्यौ करें।
तड़ड़ तड़ड़ ताड़, तड़ड़ तड़ड़ ताड़,
तरड़ तरड़, तड़ तड़, तड़क्यौ करें॥

शेरसिंह : वाह कवि। (**तभी जब तूर्ण बजाता है। महाराज शेरसिंह की जय गूँजती है। शत्रुओं की भगदड़ सुनाई देती है।**)

सेनापति : महाराज की जय हो ! आपकी तोपों के भय

से शत्रु भाग गये महाराज।

शेरसिंह : हमें अपने तोपखाने और इन तोपों के शब्द को छन्द के शब्दों में बाँध देने में समर्थ महाकवि ग्वाल पर गर्व है। लो महाकवि, हमारा ये पश्मीना का शाल भेंट में स्वीकार करो।

ग्वाल : महाराज की जय हो! (भेंट लेकर) या भेंट के ही उपलक्ष्य में ही आपसे निवेदन करूँ हूँ —

मंडन मही के महाराजा श्री शेरसिंह,
बक्सौ दुसाला आला अजब नबीनौ है।
केसर की क्यारी सों निकासी मनों देह जाकी,
तोल मोल भारी कौ हजारी जो नबीनों है॥
'ग्वाल कवि' ओढ़त दुफेर दै दै नीठ नीठ,
दीठ परिजात फेर करत पसीनों है।
और बकसीस तौ लपेटी जात बुकचा माँहि,
तेरी बकसीस ने लपेट मोय लीनों है॥

[धन्य है, धन्य है की ध्वनि। महाराज ग्वाल जी का आलिंगन करते हैं।]

[पटाक्षेप]

: ८ :

तिरस्कार

आनन्दघन : एक परिचय—आनंदघन या घनानंद जी का जन्म संवत् १७४६ के आस-पास तथा मृत्यु नादिरशाही आक्रमण के समय संवत् १७९६ में हुई थी। ये जाति के कायस्थ और बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के राज-दरबार में मीर मुंशी थे।

आरंभ में ये सुजान नामक वेश्या पर अनुरक्त थे, परन्तु जब मुहम्मदशाह ने इन्हें दरबार से निकल जाने का आदेश दिया और सुजान ने इनका साथ देना स्वीकार नहीं किया तो उससे और संसार से इनका मन फिर गया और ये विरक्त होकर वृन्दावन में आ बसे फिर भी 'सुजान' शब्द से उनका अनुराग पूर्ववत् ही बना रहा और भगवान् कृष्ण के लिये अन्त तक इनके काव्य में यह शब्द सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है।

इनके जीवन-वृत्त में इनके दिल्ली से निष्कासन और मृत्यु सम्बन्धी दो घटना ही अब तक अधिक प्रसिद्ध हैं जो आगे विस्तार से दे दी गई हैं। अतः इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

घनानंद जी की 'कृपाकंद निबंध', 'रसकेलि', 'सुजान-सागर' और 'बानी' ग्रन्थ पाये गये हैं। ये सवैया छंद के आचार्य और वियोग-शृंगार के तो मानो रस-सिद्ध अवतार ही थे। ब्रज भाषा के लालित्य का जैसा निखार इनकी रचनाओं में हुआ है वैसा बहुत कम देखने को मिलता है। भाषा पर इनका अनोखा अधिकार था।

गेय पद भी घनानंद जी ने बहुत लिखे हैं, जिनमें से कुछ बहुत पहले पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी ने 'ब्रज-भारती' में प्रकाशित किये थे।

कहा जाता है कि घनानंद जी को किशनगढ़ नरेश सावंतसिंह जी

से जो 'नागरीदास' उपनाम से ब्रजभाषा में कविता करते हुए वृन्दावन बास करते थे, घनिष्ट मैत्री थी।'[1] इसी आधार पर हमने अपने रूपक में उक्त दोनों महानुभावों की भेंट की कल्पना की है।

१. देखिए कविता कौमुदी, प्रथम भाग, पृष्ठ ३८२ पर 'घनआनंद'।

आनंदघन के जीवन की दो प्रसिद्ध घटनायें—

पात्र-परिचय

आनंदघन : बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के मीर मुंशी, बाद में प्रसिद्ध कवि और गृह-त्यागी भक्त।

मुहम्मदशाह : दिल्ली के बादशाह।

सुजान : राज-दरबार की एक गायिका, आनंदघन की प्रेयसी।

मन्त्री : बादशाह के मन्त्री।

नागरीदास : घनानंद जी के मित्र किशनगढ़ नरेश महाराज सावंतसिंह और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि।

सिपाही : आक्रान्ता नादिरशाह के सैनिक।

भगवान श्याम सुन्दर : घनानंद जी के इष्टदेव।

[बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले का राज-दरबार लगा है। सब दरबारी यथास्थान बैठे हैं, नाच हो रहा है। सब भाव-विभोर नृत्य देख रहे हैं। एकाएक नृत्य समाप्त होने पर नर्तकी आदाब करके एक ओर खड़ी हो जाती है। सब दरबारी उसे नृत्य के लिये दाद देते हैं।]

मुहम्मदशाह : आज का ये जलसा बहुत ही मुबारिक रहा, क्यों मीर मुंशी !

घनानंद : जहाँपनाह की नजर दौलत है। आपके इशारे पर क्या नहीं हो सकता आलीजाह !

मुहम्मदशाह : मगर हमने तो ये सुना है मीर मुंशी कि तुम खुद बहुत अच्छा गाते हो, क्यों न अब एक चीज तुम्हारी भी हो जाय।

घनानंद : आलीजाह ! गाना और रोना यों किस पर नहीं आता, मगर राज्य के कामों में नाक तक फँसे हुए मुझ नाचीज़ की इतनी जुर्रत कहाँ जो इस दरबार में गाने का हौसला करूँ। मुझे तो अब वर्षों से गाने के रियाज का भी कोई मौका ही नहीं मिला है, जहाँपनाह ! आप से मैं इस मामले में माफी चाहता हूँ।

मन्त्री : मगर ये मीर मुंशी का एक बहाना भर है,

हुजूर ! अगर आप वाकई आनंदघन का गाना सुनना चाहते हैं, तो आप इनसे नहीं सुजान से कहिये जहाँपनाह ! वही आपको इनका गाना सुनवा सकती हैं।

मुहम्मदशाह : **(सुजान की ओर देखकर)** क्यों सुन्दरी ! क्या तुम मीर मुंशी से गाने को कह सकती हो ?

सुजान : आपके हुकुम को कौन टाल सकता है, आली-जाह ! **(दृष्टि फेरकर घनानंद की ओर)** मीर मुंशी साहिब ! ज्यादा नखरे अच्छे नहीं होते, लीजिये ये तानपूरा और सुनाइये एक चीज । आलीजाह का हुक्म हम सब के सिर माथे पर है ।

[तानपूरा घनानंद को देती है, घनानंद तानपूरा हाथ से लेकर उसे अपने सामने बैठने को इंगित करते हैं, सुजान बैठ जाती है। घनानंद स्वाभाविक रूप से उसकी ओर मुँह कर लेते हैं, जिससे बादशाह की ओर उनकी पीठ हो जाती है ।]

घनानंद : तो तुम क्या सुनना चाहती हो, सुन्दरी !

सुजान : जो भी आप सुनाना चाहें ।

घनानंद : लो तो सुनो—

(राग-सारंग)

लागि है रे निरमोहिया, तो ही सों जिय की लाग ।
घर में बैठि कहाँ लौं साधों, ये विरहा वैराग ।।

अब तौ सब डर-डारि सदाँ सँग, फिर होंगी बन-बाग।
प्रान पपीहन कों 'आनँदघन' उचित न क्यों हूँ त्याग ॥

[संगीत की स्वर-लहरी में, सभी तन्मय हो जाते हैं। घनानंद जी का गाना समाप्त होता है तो मानो जैसे सब कोई स्वप्न-लोक से पृथ्वी पर उतरे से प्रतीत होते हैं।]

मुहम्मदशाह : मीर मुंशी ! तुम कमाल के गवैया हो ! हमारे दरबार में एक ऐसा संगीत का रत्न छिपा है ये हमने आज ही जाना, हम तुमसे बहुत खुश हैं।

मन्त्री : मगर मीर मुंशी ने हुजूर की ओर पीठ और एक अदना औरत की ओर मुँह करके गाना गाया है, इससे तख्त की तौहीन हुई है, आलीजाह ! ये बेअदवी जान मार देने लायक है। **(झुककर आदाब करता है)**

मुहम्मदशाह : बेशक, मगर हम मीर मुंशी की जान लेना नहीं चाहते। हम नहीं चाहते कि खुदा का धरती पर भेजा हुआ एक हीरा बिना तरासा हुआ ही धरती में दबा दिया जाय और दुनिया के जौहरी इसकी चमक-दमक देखने से महरूम रहे, इसलिये हम मीर मुंशी की जानबक्शी करते हैं।

मन्त्री : मगर आलीजाह ! राज-मर्यादा को तोड़ने का दण्ड तो इन्हें भुगतना ही चाहिए। अगर सारे दरबार में ये फिजा फैल गई तो राज-काज एक

दिन भी कैसे चल सकता है ?

मुहम्मदशाह : ठीक है। हम शाही उसूलों के कायल हैं। **(घनानंद की ओर देखकर)** मीर मुंशी **(तख्त से खड़े होकर)** तुमने अपनी लहतलाली में शाही नियमों की परवाह नहीं की। इसलिए अब सल्तनत को भी आज से तुम्हारी कोई परवाह नहीं। तुम्हें हुक्म दिया जाता है कि १२ घंटे से पहले-पहले तुम राजधानी से बाहर निकल जाओ। खबरदार, आगे से इस ओर मुँह भी न करना। तुम्हें जिन्दगी भर के लिए देश-निकाला दिया जाता है। **(कहते-कहते मुहम्मदशाह दरबार से बाहर निकल जाते हैं। सब दरबारी खड़े होते हैं)**

घनानंद : **(जाते हुए सम्राट् की ओर मस्तक झुकाकर)** शाही हुकुम मेरे सिर आँखों पर है, जहाँपनाह !

[बादशाह कोई उत्तर नहीं देते। सब दरबारी भी बादशाह के बाद एक-एक करके चले जाते हैं। घनानंद चुपचाप खड़े सुजान की ओर देखते रहते हैं। सबके चले जाने पर कुछ झिझकती हुई सुजान भी जाने को चेष्टा करती है, तभी घनानंद उसे रोकते हैं।]

घनानंद : तुम कहाँ चलीं मेरी प्राणप्रियतमे ! तुम्हारे लिये ही तो मैं बाबाजी बना हूँ।

सुजान : तुम अपनी इच्छा से ही बाबाजी बने हो मीर मुंशी, परन्तु मैं अभी बाबाजिन बनना नहीं

चाहती। मैं अपने घर जाना चाहती हूँ।

घनानंद : क्यों ?

सुजान : इसलिये कि तुम दुनियाँ देख चुके हो, तुम्हारा मन शायद उससे फिर चुका हो, तुम उससे विरक्त हो सकते हो, परन्तु मुझे उससे अभी अनुराग है। मैं नहीं चाहती कि मेरा बना, बनाया ये स्वर्ग उजड़ जाय, या मेरा ये यौवन-कुसुम खिलते-खिलते ही कुम्हला जाय। मीर मुंशी, सुमन-शैया पर शयन करने वाला ये शरीर वन-पथ में विचरने योग्य नहीं है, यह तुम्हें स्वयं सोचना चाहिये था।

घनानंद : आज मैं तुम से ये सब क्या सुन रहा हूँ मेरी प्यारी सुजान ! तुम जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में मेरा साथ देने को वचनबद्ध हो।

सुजान : ठीक है, पर जानबूझ कर तुम संकट को आमंत्रित करोगे, यह तुमने मुझे पहले कभी नहीं बतलाया था, नहीं तो मैं तुम्हें ऐसा वचन कभी न देती।

घनानंद : तो क्या तुम मेरी जीवन-नैया को बीच मँझ-धार में, बिना पतवार के यों ही छोड़ देना ठीक समझती हो, सुजान ?

सुजान : कदापि नहीं, मीर मुंशी साहब, परन्तु जब पतवार को पकड़ने वाले मल्लाह को ही यह विश्वास हो जाय कि उसके हाथ-पाँव मारने

से भी वह नाव को पार पर नहीं डाल सकता, तो नाव के साथ डूब मरने से वह स्वयं भँवर से निकल कर जान बचाना ही ठीक समझेगा।

घनानंद : इसका अर्थ क्या मैं ये समझूं कि मैंने तुम्हें समझने में भारी भूल की है ?

सुजान : मुंशी साहब ! कोई कभी भी किसी को किसी बात का, अपनी रुचि के अनुसार अर्थ लगाने से नहीं रोक सकता। अच्छा, अब मुझे आज्ञा दीजिये, ईश्वर ने चाहा तो हम आप जल्दी ही फिर मिलेंगे। आप हताश न हों। मैं नित्य भगवान से प्रार्थना करूँगी कि आपके ये दुख के दिन जल्दी बीत जायँ और आप जल्दी ही फिर यहाँ लौट कर मुझे मिलें। **(जाती है)**

घनानंद : ये तुम्हारा केवल भ्रम भर है सुन्दरी। गया हुआ फिर लौटा नहीं करता। **(सुजान को गई देखकर)** आह चली गई। जिसे कल तक बिना मेरे एक क्षण भी न सरता था, वह आज एकदम ऐसी बदल गई ! कैसा असह्य तिरस्कार है यह ! हे भगवान् ! तेरी लीला अपार है। **(विह्वल होकर)** तो क्या अब आज से आनंदघन बिना सुजान के ही जियेगा ? हाय सुजान ! मेरी सु······जा······न **(अचेत होकर गिर जाते हैं। उसी समय पीछे मुरली की ध्वनि उभरती है और भगवान् श्याम सुन्दर**

की छाया दिखाई देती है। घनानंद उसे सुजान समझकर अचेतना अवस्था में ही उससे वार्त्तालाप करते हैं)

घनानंद : कौन, सुजान, क्या तुम्हें मेरी दशा पर तरस आगया ? तुम लौट आयीं ?

श्याम सुन्दर की छाया : हाँ, मैं तुम पर तरस खाकर ही आया हूँ घनानद। तुम्हारे लिये मैंने अपना नाम भी आज सुजान ही रख लिया है। मैं तुम से प्रीति करता हूँ बोलो तुम मुझसे प्रीति करोगे ?

घनानंद : हाँ, हाँ, तुमसे प्रीति करने का मेरा मन तो करता है, पर पहले ये बतलाओ कि मेरी प्राण-प्यारी सुजान में और तुम में क्या अन्तर है, सुजान !

श्याम सुन्दर : मुझ में और तेरी पुरानी सुजान में ये ही अन्तर है आनंदघन कि उस सुजान ने तुम्हें विपत्ति आने पर छोड़ दिया, पर मैं तुझे कभी नहीं छोड़ूँगा। तू उस सुजान के पीछे हाथ बाँधे डोला करता था पर तैंने यदि मुझसे सचमुच प्रीति की तो मै स्वयं तेरे पीछे-पीछे दौड़ूँगा।

घनानंद : क्या यह तुम सच कह रहे हो मेरे सुजान ?

श्याम सुन्दर : एक दम सच। अगर तुझे मुझसे प्रीति करनी हो तो तुरन्त मेरे पास वृन्दावन चला आ। **(छाया अदृश्य हो जाती है। घनानंद एक दम हड़बड़ा कर उठ बैठते हैं।)**

घनानंद : हैं, मेरे प्यारे सुजान, कहाँ गये। तुम्हें देखकर कुछ आँखें ठंडी हुई थीं, पर तुम चले गये। परन्तु मैं तुम्हें अब यों छोड़ नहीं सकता। लो मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ही वृन्दावन आ रहा हूँ। मेरे निर्मोही सुजान—

जिन आँखनि रूप चिन्हाई भई,
तिनकों नित ही दहि जागनि है।
हित-पीर सों पूरित जो हियरौ,
फिर ताहि कहाँ, कहु, लागनि है॥
'घनआनंद' प्यारे सुजान सुनौ,
जियराहि सदा दुख-दागनि है।
सुख में मुख चंद बिना निरखें,
नख ते सिख लौं बिख पागनि है॥

[जाते हैं।]

पयान

[वृन्दावन धाम में यमुना-तट पर फूँस की बनी एक कुटी में घनानंद जी विराजमान हैं। पास ही राधा कृष्ण की गौर और श्याम पाषाण की दो मूर्त्तियाँ रखी हैं। धूप जल रही है। किशनगढ़ नरेश महाराज नागरीदास घनानंद जी के पास बैठे वार्त्तालाप कर रहे हैं।]

घनानंद : महाराज नागरीदास जी, आपने वृन्दावन वास का शुभ निश्चय करके इस सरस भूमि को अपनी रसभरी वाणी से और भी सींचने का शुभ संकल्प किया है। यह हम सबकी ही प्रसन्नता का कारण है।

नागरीदास : हाँ घनानंद जी, आप सबके सत्संग से सम्भवतः हम भी आप जैसी ही श्याम सुन्दर के प्रेम की पीर को हृदयंगम कर सकेंगे, यही सोचकर हमने श्री वृन्दावन की शरण गही है। आप जैसे स्नेही, ब्रजभाषा-प्रवीण और वियोग-रीति में कोविद महाकवि, हमें बिना इस वृन्दावन धाम में बसे मिलते भी कहाँ ? आपकी कविता की प्रशस्ति तो हमने किशनगढ़ में ही सुनी थी जब किसी ने हमें ये सवैया सुनाये थे, कि—

नेही महाब्रज-भाषा प्रबीन,
औ सुन्दरताई के भेद कों जानै।

आगे वियोग की रीति में कोविद,
भावना भेद स्वरूप कों ठानैं ।।
चाह के रंग में भीज्यौ हियौ,
बिछुरे मिलें प्रीतम सांति न मानै ।
भाषा प्रबीन सुछन्द सदा रहै,
सो घन जू के कवित्त बखानै ।।
प्रेम सदा अति ऊँच लहै, सु कहै,
इहि भाँति की बात छकी ।
सुनिकैं सबके मन लालच दौरै,
पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी ।।
जग की कविताई के धोखे रहैं,
ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी ।
समुझे कविता घनआनंद की,
हिय आँखिन नेह की पीर तकी ।।

घनानंद जी ! आपसे भगवान् नट नागर की प्रेम की पीर का तत्व प्राप्त करने के लिए ही मैंने तो ये वृन्दावन वास लिया है । सोचता हूँ गृह-कलह और ईर्ष्या-द्वेष से भरा किशनगढ़ का राजसिंहासन वृन्दावन के इस प्रेम-राज्य के रससिद्ध सिंहासन से कितना क्षुद्र है ।

घनानंद : आपका विचार सही है, महाराज ! वृन्दावन की इसी महिमा को हृदय में धारण करके ही ये पतित 'घनानंद' भी इसी विचार से यहाँ पड़ा है, कि—

गुरुन बतायौ, राधा मोहन हूँ गायौ सदा,
सुखद सुहायौ वृन्दावन गाढ़े गहि रे।
अद्‌भुत अभूत, महि-मंडल परे तें परे,
जीवत कौ लाहु, हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥
आनन्द कौ घन छायौ रहत निरन्तर ही,
सरस सुदेह सों पपीहा पन बहि रे।
जमुना के तीर केलि-कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित, परि रहि रे॥

नागरीदास : यह तो ठीक है घनानंद जी, परन्तु कभी-कभी राजनीति की स्वार्थ लिप्सा धार्मिक स्थलों की शान्ति और पवित्रता में भी व्याघात उपस्थित कर देती है। इस समय दिल्ली सम्राट् की अशक्त सेनाओं ने नादिरशाह की पाशविकता के आगे घुटने टेक कर समस्त जन-जीवन को संकट-ग्रस्त कर दिया है। मथुरा की पावन-भूमि तो इन ईरानी बर्बर अत्याचारियों ने निर्दोषों के रक्त से रंग-रंग कर कलंकित की ही है, कौन जाने वृन्दावन पर भी इन आताताइयों की कब दृष्टि पड़ जाय? मुझे तो आज ही आवश्यक कार्यवश किशनगढ़ जाना पड़ रहा है। इसलिये सोचता था जाने से पहले आपको भी इस संकट की सूचना दे दूँ।

घनानंद : ठीक ही है महाराज! आप जैसे राजनीति के पण्डितों को यह सब ऊँच-नीच सोचना ही

चाहिये, परन्तु हम विरक्त फक्कड़ों की सोचने वाला तो वही सुजान कान्ह है। आप निश्चिन्त होकर अपनी यात्रा करें। भगवान् सब कल्याण करेंगे।

नागरीदास : तो आज्ञा हो, प्रणाम ! (**हाथ जोड़ते हैं**)

घनानंद : भगवान् आपका कल्याण करें राजन् ! आपकी यात्रा निरापद हो।

[**नागरीदास जाते हैं। घनानंद उन्हें विदा करते हैं फिर भगवान् की मूर्ति के पास जाकर सिंहासन से लगकर कहते हैं।**]

घनानंद : मेरे प्यारे सुजान ! तुम्हारी भी अजब लीला है। किसी को सुख से क्यों नहीं रहने देते, नटखट ! सुख से रहते मथुरा वासियों को नादिरशाही अत्याचार की चक्की में पीस कर तुम्हें क्या मिल गया मेरे नाथ ? ये तो तुम्हारी जन्मभूमि के वासी थे, परन्तु तुमने इनका भी कोई भला नहीं सोचा सुजान ! और मुझ से भी ये रुखाई आखिर कब तक चलेगी तुम्हारी ? पहले अपनाकर फिर त्याग देना ये कहाँ का न्याय है प्यारे—

पहले अपनाय सुजान सनेह सों,
क्यों फिर नेह कों तोरिये जू।
निरधार अधार दै धार मँझार,
दई गहि बाँह न बोरिये जू॥

'घनश्रानंद' श्रापने चातक कों,
गुन बाँधि कै मोह न छोरिये जू ।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै श्रास,
बिसास में क्यों विष घोरिये जू ।।

श्रौर प्यारे सुजान ! मैं तो तुम्हारे ही लिये तुम्हारे गाँव में श्राकर बसा हूँ, पर एक तुम हो, जो श्रब भी दूर ही दूर हो । गाँव-नाता तक नहीं मानते, मेरे सुजान !

श्रापुहि तें मन हेरि हँसे,
तिरछे करि नैननि नेह के चाव में ।
हाय दई सु बिसारि दई सुधि,
कैसी करौं, सो कहौ कित जाँव मैं ।।
मीत सुजान श्रनीति कहा,
यह ऐसी न चाहिये प्रीति के भाव में ।
मोहन मूरति देखिबे कों,
तरसावत हौ बसि एक ही गाँव में ।।

हे प्यारे, श्रब इस श्रनीति को छोड़कर मेरी इतनी बिनती तो सुन लो—

दृग फेरिये, ना श्रनबोलिये सों,
सर से ह्वै लगे कत जीविये जू ।
रसनायक दायक हौ रस के,
सुखदायी ह्वै दुःख न दीजिये जू ।।
'घनश्रानंद' प्यारे सुजान सुनौ,
बिनती मन मनि कै लीजिए जू ।

बसिकै इक गाँव में ए हो वई,
चित ऐसौ कठोर न कीजियै जू ।।

[नेपथ्य में एकदम कोलाहल होता है। उससे घनानंद जी का ध्यान भंग होता है। तभी एक शब्द सुनाई देता है— 'कहाँ है बादशाह का मीर मुंशी जो उसके जर को दबाये यहाँ वृन्दावन में साधू होने का ढोंग किये छिपा बैठा है।' आवाज सुनकर घनानंद मूर्ति के पास से हट कर सहज भाव से अपनी गद्दी पर आ बैठते हैं, जिसके पीछे स्वच्छ तकिया लगा है। दो ईरानी सिपाही आते हैं।]

सिपाही : तू ही है बादशाह का मीर मुंशी।

घनानंद : अब तो नहीं हूँ भाई, हाँ कभी था।

दूसरा सिपाही : 'कभी था' हमसे बनता है। देख होश में आ जा और तेरे पास जो भी गढ़ा-छिपा 'जर' है उसे अभी निकाल कर रख दे वरना अभी मारा जायेगा।

घनानंद : (हँस कर) 'जर'। 'जर' यहाँ कहाँ है भाई। इस श्री वृन्दावन की तो ये रज ही संसार में भक्तों का सब से बड़ा 'जर' है। यह 'जर' अगर तुम्हें चाहिये तो लो और इस रज से अपने शरीर को धन्य करो। (तीन मुट्ठी रज उठाकर सिपाहियों पर डाल देते हैं)

सिपाही : तेरा इतना साहस, मुड़िये! (आँखें निकालता है)

दूसरा सिपाही : ले, हम पर मिट्टी डालने का मजा ले। (तलवार खींचकर घनानंद जी का बाँया हाथ काट देता

है, खून बहने लगता है, घनानंद तकिया के सहारे लुढ़क जाते हैं, सिपाही अट्टहास करते निकल जाते हैं।)

घनानन्द : (पड़े हुए तकिये पर खून से कुछ लिखते हुए बड़बड़ाते हैं) चलो सुजान ! आखिर इसी बहाने सही, तुमने सुनी तो सही। अब तो मैं आ ही रहा हूँ तुम्हारे पास। पर आने से पहले मेरा ये संदेश अवश्य सुन लो जो मैंने अपने रक्त से इस तकिये पर तुम्हारे लिये लिख दिया है, लो सुनो—

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कौ।
कहि कहि आवत छबीली मन भावन कों,
गहि गहि राखति ही, दै दै सनमान कौ ॥
झूँठी बतियान की पत्यानि तें उदास ह्वै कैं,
अब ना घिरत 'घन-आनँद' निदान कौ।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसों लै सुजान कौ ॥

[घनानंद जी निश्चेष्ट होकर भूमि पर गिर जाते हैं। पीछे भगवान श्याम सुन्दर की छवि मुरली के रोर के साथ उनका आत्म-समर्पण स्वीकार करती प्रतीत होती है।]

[पटाक्षेप]

: ९ :

किधौं सूर कौ पद लग्यौ

सूरदास : एक स्पष्टीकरण—इस संग्रह में जहाँ हमने भक्ति और रीति युग के कुछ प्रमुख कवियों को इस एकांकी संग्रह में सम्मिलित किया है वहाँ हिन्दी काव्याकाश के सूर्य और चन्द्र, सूर और तुलसी को छोड़ देना एक खलने वाली बात थी। तुलसी के स्थान पर हमने उनकी धर्म-पत्नी 'रत्नावली जी' के पावन चित्रण द्वारा प्रकारान्तर से महाकवि तुलसी की ही चर्चा की है, परन्तु पत्नी से सहज उदासीन अविवाहित सूर के सम्बन्ध में हमें ऐसा करने की भी सुविधा न थी। अतः यहाँ सूर के एक पद पर प्रचलित प्रसिद्ध अनुश्रुति को ही हम एकांकीबद्ध करके उस दिव्य दृष्टि सम्पन्न महाकवि को नमन कर रहे हैं।

सूरदास जी के पद के साथ ही इस नाटक में अकबरी दरबार के अन्य कवियों की भी चर्चा हो गई है, और रहीम जी जो हिन्दी के एक महाकवि ही नहीं वरन् कवियों के आश्रयदाता, उदार दानी और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे की असाधारण प्रतिभा पर भी इस नाटक से प्रकाश पड़ता है।[१]

महाकवि सूर के जीवन-वृत्त पर हमारी एक पूरी नाटिका अलग से प्रकाशित हो रही है और महाकवि तुलसी का जीवन-वृत्त अभी तक विवादास्पद है। अतः हमने इन महाकवियों के जीवन पर नाटक यहाँ नहीं दिये हैं।

अकबरी दरबार की एक झाँक

किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत सरीर—

पात्र-परिचय

अकबर : भारत के प्रसिद्ध कला-प्रेमी मुगल सम्राट् ।

तानसेन : सम्राट् अकबर के राज-गायक और कवि ।

बीरबल : सम्राट् के सखा, सहयोगी और 'ब्रह्म' उपनाम से हिन्दी काव्य के रचयिता ।

टोडरमल : सम्राट् के अर्थ-तन्त्र के सूत्रधार।

फौजी : सम्राट् के मन्त्री व फारसी के प्रसिद्ध कवि ।

रहीम : अब्दुल रहीम खानखाना । हिन्दी के प्रसिद्ध कवि, और उदार दानी अकबर के सेनापतियों में से एक ।

[कुछ दरबारी, दूत आदि]

[सायंकाल का समय है। भगवान् अंशुमाली अस्ताचल की गोद में विश्राम करने को आतुर हैं। सम्राट् अकबर के राजमहल का कोलाहलपूर्ण वातावरण धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा है। भारत सम्राट् दिनभर के राज-काज से श्रान्त-विश्राम की मुद्रा में एक स्वर्ण की चौकी पर विराजित हैं। परिचारक परिचर्या में व्यस्त हैं। सम्राट् के कुछ नवरत्न भी छोटे-छोटे आसनों पर आसीन हैं। सम्राट् के ठीक सामने स्वर-सम्राट् तानसेन तानपूरा पर गा रहे हैं।]

तानसेन :

जसोदा बार बार यों भाखे।
है ब्रज में कोऊ हितू हमारौ, चलत गुपालहिं राखै॥
कौन काज मेरे छगन मगन कौ, नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक सुत मेरे प्रान हनन कौं, काल रूप ह्वै आयौ॥
बरु ये गोधन लेहु कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनों मांगूं कमल नैन, मेरी आँखिन आगै खेलौ॥
बारस बदन बिलोकत जीबों, निसि निज अंकम लाऊँ।
तेहि बिछुरत जो जियों कर्मबस, तौ हँसि काहि बुलाऊँ॥
कमल नैन गुन टेरत टेरत, अधर बदन कुम्हलानी।
'सूर' कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नन्द की रानी॥

अकबर : कमाल है तानसेन। तुम्हारे गाने को सुनकर हमारी आजतक कभी भी तृप्ति नहीं हुई। जितना सुनते हैं उतना ही और सुनने की इच्छा होती है।

तानसेन : ये तो आपका अनुग्रह है सम्राट्, नहीं तो……

अकबर : नहीं तो नहीं तानसेन ! इसमें अनुगृह की कोई बात नहीं। तुम्हारी वाणी में एक जादू है, कशिश है, और तुम्हारे गाने के लहजे में भाव को प्रगट करने की अनौखी सामर्थ है। यही वजह है कि जहाँ हम इस पूरे हिन्दोस्तान पर राज्य करते हैं, वहाँ तुम्हारा संगीत हमारे हृदय पर राज्य करता है। लो आज का ये पारितोषिक ग्रहण करो कलाकार। (**गले से मोतियों की माला उतारकर देते हैं।**)

तानसेन : (**कृतज्ञतापूर्वक भेंट स्वीकार करते हुए**) सम्राट् की जय हो। आपके गले के इस अमूल्य रत्नहार के पुरस्कार द्वारा सम्मानित होकर मैं अपनी कला को गौरवान्वित समझता हूँ। भगवान सदा ही कलाकारों और कला-पारखियों को अमर बनाये रक्खें।

अकबर : कला और कलाकार तो सदा ही अमर हैं तानसेन। कला कभी समय की गति से बँधकर नहीं जियी। जब तक संसार में इतिहास है कोई हमें या हमारे नवरत्नों को कैसे भूल

सकता है ? तानसेन, आज तुमने जो वेदना में डूबा ये पद गाया है वह अब भी रह-रहकर हमारे हृदय में गूंज रहा है और हमें झकझोर रहा है। क्या तुम बता सकोगे कि ये किस सिलसिले में कब और किस महाकवि ने लिखा है ?

तानसेन : क्यों नहीं सम्राट् ! इसमें छिपा रखने की बात ही कौनसी है। ये पद भी भगवान घनश्याम के उन्हीं अंधे सखा सूर का लिखा है जिनसे स्वयं भेंट करने के लिए आप मथुरा पधारे थे। जिस समय ब्रज से विदा होकर कृष्ण कन्हैया रथ में बैठकर मथुरा चलने लगे, माता यशोदा की करुण दशा अवर्णनीय हो गयी। उसी दशा का वर्णन इस पद में उस अंधे महाकवि ने किया है, सम्राट्।

"जसोदा बार बार यों भाखै।
है ब्रज में कोऊ हितू हमारौ, चलत गुपालहि राखै ॥"

सम्राट् : हूँ।

तानसेन : जब गोपाल कृष्ण चलने लगे तो माता यशोदा कातर होकर घड़ी-घड़ी में अर्थात् बार-बार यही पुकारने लगीं कि क्या **'है ब्रज में कोऊ हितू हमारौ, चलत गुपालहि राखै।'**

सम्राट् : ऐसे महाकवि हमारे राज्य में निवास करते हैं ये मुगलिया सल्तनत की खुशकिस्मती है।

महाकवि सूर की अंधी आँखों ने माँ के ममता भरे हृदय को भी बहुत गहरे पैठ कर देखा लगता है। तानसेन, ये पद सचमुच तुम जैसे गायक के ही गाने लायक है।

बीरबल : (**परिहासपूर्वक**) परन्तु अविनय क्षमा हो जहाँ-पनाह ! निस्संदेह ये पद तो तानसेन जैसे गायक के ही गाने योग्य है; परन्तु समझ बूझकर। यदि आप आज्ञा दें तो मैं ये निवेदन करना चाहता हूँ सम्राट्, कि गायन और समझदारी ये दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं, और तानसेन अब गायन के महासागर में इतने गहरे डूब चुके हैं, कि समझदारी का पल्ला उनसे कोसों पीछे छूट चुका लगता है।

सम्राट् : (**मुस्कराते हुए**) जी, हमें यही ताज्जुब था राजा बीरबल, कि आप अखिर इतनी देर कैसे चुप बैठ सके। हाँ तो अब आप फरमाइये, आप तानसेन के गायन के कायल होकर भी इनका दामन समझदारी से कोसों पीछे रखने को कैसे उतारू हैं ?

बीरबल : केवल इसलिये ही जहाँपनाह, कि सारे दिन और रात अष्ट-प्रहर बार-बार सा, रे, ग, म, प करते-करते मियाँ तानसेन की बुद्धि भी इनके अँगुली के पोरुओं जैसी ही दागी हो गई है। इसीलिए

इन्हें सूर के 'बार-बार' का अर्थ अनेक बार और घड़ी-घड़ी ही सूझा है।

अकबर : (**कुछ आश्चर्य मिश्रित कौतूहल से**) तो क्या आप इसका कोई और अर्थ भी करना चाहते हैं।

बीरबल : नहीं जहाँपनाह, मैं तो केवल हजरत तानसेन द्वारा किये गये इस अनर्थ को ठीक भर करना चाहता हूँ। भला आप स्वयं सोचिये सम्राट्, क्या यशोदा माता कोई बावली या उन्मादिनी थीं जो वहाँ खड़े लोगों से एक ही बात को बार-बार या घड़ी-घड़ी कहतीं। वास्तव में तानसेन सूर के भाव को पहुँचे ही नहीं।

एक सभासद : तो फिर आप ही बतलाइये न राजा साहब, इसका अर्थ क्या है ?

बीरबल : (**दाँत निकालते हुए**) हुँ······हुँ······भला राजा बीरबल की क्या मजाल है जो बिना सम्राट् के कहे मुँह भी खोले।

सम्राट् : (**हँसकर**) मजाल तो आपकी सब कुछ है राजा साहब, मगर अब आपका हम सबको और तरसाना ठीक नहीं। बतलाइये आपकी राय में इसका क्या अर्थ है, हम भी उसे सुनना चाहते हैं।

बीरबल : तो सुनिये जहाँपनाह। इस स्थान पर बार-बार का अर्थ है द्वार-द्वार। माता यशोदा अक्रूर के संकोच से वैसे खुलकर तो अपने प्यारे कन्हैया

को रोक नहीं सकीं, परन्तु भीतर ही भीतर घर-घर यानी द्वार-द्वार जाकर वे ब्रजवासियों से आग्रह कर रही हैं कि वे गोपाल को रोकें। यही इस 'बार-बार' का सही अर्थ है।

एक सभासद : वाह राजा साहब ! वाह ! आपने भी खूब बाल की खाल निकाली।

तानसेन : मगर राजा साहब बार का अर्थ तो बार ही होगा। द्वार कहकर तो आप शब्द को बेकार तोड़-मरोड़ रहे हैं।

बीरबल : संगीतज्ञ जी, ये कोमल और तीव्र स्वरों के उतार-चढ़ाव वाला 'षट राग' नहीं है। ये भाषा-विज्ञान का 'षट्-ज्ञान' है। इसका मर्म हम जैसे 'षट्-ज्ञानी' ही समझते हैं। देखिये तानसेन जी ! जिस प्रकार 'अमावस' 'मावस' या 'स्फूर्त्ति' 'फुरती' बन गयी है, ठीक उसी तरह द्वार भी 'बार' बन सकता है।

सब : **(हँसते हैं)** ठीक है।

सम्राट् : तो क्या अब आप सबकी राय से राजा बीरबल का अर्थ ही सही मान लिया जाय ?

टोडरमल : नहीं, सम्राट्।

बीरबल : **(परिहास मुद्रा में)** ओ हो, राजा टोडरमल जी, कृपा है भगवान की जो आज मुगलिया कोष की अपार सम्पत्ति सम्हालते-सम्हालते आपको इस कविता पर विचार करने की फुर्सत तो

हुई। इसीलिए आज की आपकी ये नहीं हमारे लिये तो सही से भी बढ़कर है।

अकबर : आप उन्हें छेड़िये मत राजा वीरबल। कहिये टोडरमल जी आप सूर के इस 'बार बार' के सम्बन्ध में क्या राय रखते हैं?

टोडरमल : सम्राट्! यद्यपि 'बार' शब्द से द्वार अर्थ ध्वनित हो सकता है, परन्तु फिर भी शायद राजा वीरबल ब्राह्मण कुल में जन्मने के कारण संस्कार वश ही महाकवि सूर की इस पंक्ति का यह अर्थ ग्रहण करने को आतुर हुए हैं क्योंकि द्वार-द्वार पर जाकर भीख माँगना ब्राह्मणों का पुराना काम है।

[सब हँसते हैं, वीरबल 'ऊँ··· हूँ'···करके परिहास में मस्तक हिलाते हैं।]

सम्राट् : **(वीरबल की ओर देखकर)** तो फिर आपकी राय में इन शब्दों का क्या अर्थ है राजा टोडरमल?

टोडरमल : जहाँपनाह! इस पंक्ति में बार शब्द दो बार आया है। इसमें पहले बार का अर्थ है 'वारि' अर्थात् पानी और दूसरे बार का अर्थ है, द्वार। इस प्रकार 'बारि-बार' का अर्थ हुआ जल का द्वार अर्थात् यमुना का घाट। जैसा सभी जानते हैं जहाँपनाह, भगवान कृष्ण यमुना स्नान करके मथुरा गये थे और तब सब ब्रजवासी भी

उनके साथ थे। इसलिये यमुना के घाट पर सब ब्रजवासी जब नदी के निकट मथुरा जाने को इकट्ठे हुए तब यशोदा ने वहाँ सबसे अपने पुत्रों को रोकने का आग्रह किया, इन शब्दों का ये अर्थ ही ठीक बैठता है। राजा वीरबल का अर्थ 'द्वार-द्वार' इस मामले में इसलिए गलत है, क्योंकि कृष्ण के जाते समय कोई भी घर के अन्दर न था। कुछ उनके साथ जा रहे थे, कुछ उन्हें भारी हृदय से विदा कर रहे थे, फिर क्या सूने मकानों के भीत कोनों से बातें करने माता यशोदा द्वार-द्वार जातीं, जहाँपनाह !

एक सभासद : (धीरे से) राजा वीरबल साहिब, ये खूब रहा नौले पर दहला।

अकबर : राजा साहब ! आपकी बात सचमुच वजनदार है। वाकई सूर भी एक अनोखे कवि हैं जिन के पद के दो शब्दों के अर्थ तक पर ये विद्वानों की सभा इतने समय तक एकमत नहीं हो सकी है।

फैजी : और यहाँ तक कि राजा टोडरमल की व्याख्या के बाद भी इन शब्दों पर आगे विचार की अब तक और आवश्यकता बनी हुई है जहाँपनाह !

सम्राट् : कौन, फारसी के महाकवि फैजी, क्या आप भी इस सम्बन्ध में कुछ कहना चाहते हैं ? कहिए, कहिए न।

फैजी : वैसे तो जब हमारे अर्थमन्त्री राजा टोडरमल ही इस पर अपनी सम्मति दे चुके, तो इन शब्दों का और अर्थ व्यर्थ-सा ही लगता है सम्राट्, परन्तु फिर भी यह अनर्थ दूर किये बिना मन मान नहीं रहा। यह ठीक है सम्राट् कि राजा टोडरमल ने धूप में बाल सफेद नहीं किये हैं, देश की अर्थ-व्यवस्था के संगठन और मुगलिया कोष की बढ़ोत्तरी के लिये घाट-घाट का पानी भी राजा साहब ने डटकर पिया है, फिर भी राजा साहब के लिये घाटों की धुन में कविता के भाव को भी घाट पर पहुँचा देना उचित नहीं है, सम्राट्।

बीरबल : बिलकुल नहीं जहाँपनाह, तनिक भी नहीं। **(सम्राट् परिहास की मुद्रा में दिखावटी क्रोध प्रगट करते हुए घूरते हैं)** अपराध क्षमा हो अन्नदाता, मुझे कृपा करके ये निवेदन करने की अनुमति प्रदान कीजिये कि एक कवि ही कवि के भाव को ठीक समझ सकता है। **(सम्राट् मुस्कराते हैं)**

सम्राट् : तो ठीक है, अब महाकवि फैजी इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करें।

फैजी : महाबली ! इस पद में माता यशोदा के विरह की व्यथा की अकथ कथा भरी हुई है। 'बिवाई की पीर वही जानता है जिसके वह फटी हो।'

माता यशोदा के प्राण प्यारे लाल जिस समय ब्रज से चले होंगे, उस समय उस शोक-जर्जर वृद्धा में यमुना तक या द्वार-द्वार दौड़ भागने का दम ही कहाँ रहा होगा। उस समय न उन में घड़ी-घड़ी चीखने की शक्ति होगी न बार-बार पुकारने की। कृष्ण के विरह में पीड़ित वह वृद्धा उस समय वैसी ही अनाथ होकर एक ओर आर्त्त और असहाय पड़ गयी होगी जैसे वृक्ष से टूटी हुई डाली। मैं राजा टोडरमल के 'बारि बार' अर्थ जल के द्वार से सहमत हूँ सम्राट्, मगर वह जल का द्वार यमुना का तट नहीं वरन् स्वयं माता यशोदा के शोक भरे नेत्र थे, जिनमें से लगातार बहती वियोग के आँसुओं की वेगवती धारा उस समय यमुना से किसी भी प्रकार कम प्रभावोत्पादक नहीं रही होगी।

सब : धन्य है, धन्य है ! यही अर्थ ठीक है।

एक शब्द : वास्तव में कवि फैजी ही सूरदास के सही भाव तक पहुँचे हैं।

सम्राट् : तो अब सब फैजी साहब से सहमत हैं, आज की सभा समाप्त की जाय ?

बीरबल : अब इसमें आगे असहमति की गुंजाइश भी कहाँ रही है जहाँपनाह।

टोडरमल : परन्तु महाबली, अभी तक महाकवि अब्दुल

रहीम खानखाना साहिब ने इन शब्दों पर अपने विचार प्रगट नहीं किये हैं।

सम्राट् : हमें भी इसका ताज्जुब है। क्यों खानखाना साहब, आज आप क्यों खामोश हैं ?

रहीम : सम्राट्, सदा अधिक बोलना भी तो अच्छा नहीं होता।

सम्राट् : परन्तु जब ब्रजभाषा के महाकवि सूर की चर्चा हो रही हो, तब मुगलिया दरबार के नाज और ब्रजभाषा कविता के सिरमौर रहीम की चुप्पी का कोई खास मतलब होता है।

रहीम : मतलब तो स्पष्ट है सम्राट्। सूर्य की रश्मियों का लाभ तो सारा संसार लेता है परन्तु सौर-मण्डल में बैठने का साहस आज तक किसी ने नहीं किया है। एक बार 'संपाति' गृद्ध ने यह दुराग्रह किया था पर वह जलकर गिर पड़ा। जब संसार के सूर्य का ये हाल है तो कविता-'सूर' की कौन थाह ले ? आपका खानखाना इस प्रयास को दुस्साहस समझता है।

फैजी : फिर भी आलीजाह ! हम दो शब्द तो रहीम जी से सूर के इन दो शब्दों पर सुनना ही चाहेंगे।

सम्राट् : और हम भी।

रहीम : (**संकोच के साथ**) यदि आपका यही आग्रह है तो सुनिये सम्राट्। मेरी राय में कवि फैजी
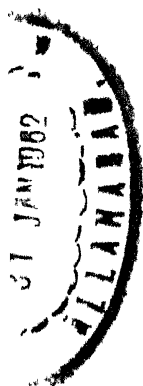
सूर के भाव के बहुत निकट तक पहुँचे हैं, परन्तु फिर भी शायद वे पूरी तरह वहाँ नहीं पहुँच पाये। इसीलिए 'बारि-बार' का जो अर्थ 'नेत्र' उन्होंने किया है वह एकांगी है। नेत्र ही क्यों ऊपर से नीचे तक यशोदा माता का पूरा शरीर ही उस समय व्याकुल था, जब उनके प्राण प्यारे कन्हैया ने उन्हें छोड़ा। ब्रजभाषा में 'ल' के स्थान पर 'र' हो जाया करता है सम्राट्। इसलिए 'बारबार' का अर्थ है यहाँ 'बाल-बाल' अर्थात् शरीर का रोम-रोम। जब घनश्याम चले तो माता यशोदा के शरीर का 'रोम-रोम' कातर भाव से यही पुकारता था कि "है **ब्रज में कोऊ हितू हमारौ चलत गुपालहिं राखै।**" मेरी समझ में तो इसका यही अर्थ ठीक है।

सब : धन्य है, धन्य है !

सम्राट् : सत्य है खानखाना। महाकवि सूर के इस अमर काव्य के मर्म को समझना—जो हमारी सियासी सल्तनतों से हजार गुना दीर्घजीवी है—तुम जैसे कवियों का ही काम है। क्यों तानसेन ?

तानसेन : ठीक ही है सम्राट् ! आज तक तो मैंने सूर के पदों को बिना समझे ही गाया लगता है। शायद आगे उनकी गहराई समझ में आजाय। मैंने आजही ये भेद समझा है कि सूर के तीर और

पीर की भाँति ही सूर के पद भी तन, मन और शरीर को विह्वल कर देते हैं—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर कौ पद लग्यौ, तन-मन धुनत शरीर॥

[यवनिका पतन]